

# चिन्तन-सृजन

## त्रैमासिक

वर्ष 9 अंक 3

जनवरी-मार्च 2012

सम्पादकीय परामर्शदात्री समिति

लोकेश चन्द्र

यशदेव शल्य

जे.एन.राय

रमेशचन्द्र शाह

सम्पादक

बी. बी. कुमार

सह-सम्पादक

शंकर शरण

आस्था भारती

दिल्ली

**वार्षिक मूल्य :**

व्यक्तियों के लिए	60.00 रुपये
संस्थाओं और पुस्तकालयों के लिए	150.00 रुपये
विदेशों में	\$ 15

**एक प्रति का मूल्य**

व्यक्तियों के लिए	20.00 रुपये
संस्थाओं के लिए	40.00 रुपये
विदेशों में	\$ 4

**विज्ञापन दरें :**

बाहरी कवर	10,000.00 रुपये
अन्दर कवर	7,500.00 रुपये
अन्दर पूरा पृष्ठ	5,000.00 रुपये
अन्दर का आधा पृष्ठ	3000.00 रुपये

प्रकाशन के लिए भारतीय सामाजिक विज्ञान अनुसंधान परिषद द्वारा आंशिक आर्थिक सहायता प्राप्त

आस्था भारती

**रजिस्टर्ड कार्यालय :**

27/201 ईस्ट एंड अपार्टमेंट  
मयूर विहार फेस-1 विस्तार  
दिल्ली-110 096

**कार्य-संचालन कार्यालय :**

23/203 ईस्ट एंड अपार्टमेंट  
मयूर विहार फेस-1 विस्तार  
दिल्ली-110 096

से आस्था भारती के लिए राजेश भार्गव, कार्यकारी सचिव द्वारा प्रकाशित तथा विकास कम्प्यूटर एण्ड प्रिण्टर्स, 1/10753, सुभाष पार्क, नवीन शाहदरा, दिल्ली-32 द्वारा मुद्रित। फोन : 011-22712454

ई.मेल : asthabharati@yahoo.com

वेब साइट : asthabharati.org

चिन्तन-सृजन में प्रकाशित सामग्री में दृष्टि, विचार और अभिमत लेखकों के हैं। सम्पादक की सहमति अनिवार्य नहीं है।

**विषय-क्रम**

सम्पादकीय परिप्रेक्ष्य	5
1. हिंदी साहित्य में सांस्कृतिक स्वाधीनता की चुनौती रमेश चंद्र शाह	9
2. डॉ. कुमार विमल : अमरत्व का वरण! पांडेय शशिभूषण 'शीतांशु'	20
3. कला शंकर पुणतांबेकर	26
4. वेदान्त विमर्श डॉ. एस.पी. दुबे	33
5. दरकती धरती पर चिंतन-बीज-मंत्र : अज्ञेय श्रीराम परिहार	38
6. परमहंस की तपस्थली में डॉ. भुवनेश्वर प्रसाद गुरुमैता	45
7. सांप्रदायिकता बनाम भारतीयता के. मोहनन पिल्लै	53
8. सप्तकों की भूमिकाएँ नित्यानंद श्रीवास्तव	58
9. बदलते परिवेश में शिक्षा की चुनौतियाँ दिनेश मणि	68

10.	पूर्वोत्तर के असम में हिंदी भाषासाहित्य के विकास का परिदृश्य <i>दिनेश कुमार चौबे</i>	73
11.	आदर्श पत्रकारिता के विविध आयाम <i>शशि कांत राय</i>	98
12.	पुस्तक-समीक्षा संत की स्नेहसिक्त मधुमय वाणी : 'संत रविदास की राम कहानी' <i>समीक्षक: घनश्याम मैथिल 'अमृत'</i>	106
13.	पुस्तक-चर्चा बारामासी : सत्तर के दशक की जीवंत मानसिकता के दर्शन गाँव-कस्बों के संदर्भ में <i>सुधीर ओखदे</i>	114
14.	पुस्तक-समीक्षा अश्रुत पथों पर चलते संकल्पबद्ध चरण <i>नंदलाल मेहता 'वागीश'</i>	118
15.	पुस्तक समीक्षा अनुभूति के पल <i>रंजना शर्मा</i>	122
	<i>पाठकीय प्रतिक्रिया</i>	124
	<i>प्राप्ति-स्वीकार</i>	126

## सम्पादकीय परिप्रेक्ष्य

### भारतीय बौद्धिक परिवेश

मेरे सामने तीन पुस्तकें पड़ी हैं। पहली पुस्तक राजीव मलहोत्रा एवं अरविन्दन नीलकान्दन की 'ब्रेकिंग इण्डिया' वेस्टर्न इन्टरवेंशन्स इन ड्राविडियन एण्ड दलित फॉल्टलाइन्स (Breaking India : Western Interventions in Dravidian and Dalit Faultlines) है। पुस्तक भारतीय राष्ट्र एवं समाज की अखंडता को क्षति पहुँचाने वाले कारकों, विदेशी व्यक्तियों, संस्थानों, उनके भारतीय एजेंटों, उनकी गतिविधियों, आन्दोलनों, जैसे इंडियन क्रिश्चियन मुव्हमेंट, नस्लवादी उपनिवेशी सिद्धांतों आदि की विस्तृत विद्वतापूर्ण जानकारी देती है। इस भारत-विरोधी खेल में असैद्धान्तिक गठजोड़ से परहेज नहीं। इसमें मार्क्सवादियों एवं दक्षिण-पंथी युरो-अमेरिकियों की, नक्सलियों एवं ईसाई चर्च की सहभागिता के प्रमाण हैं; इसमें दिए गये विदेशी सरकार एवं आर्थिक मदद देनेवाली एजेंसियों, चर्च से जुड़े संगठनों/संस्थानों, सूचना-तंत्र, मानव अधिकार संगठनों एवं विदेशी अकादमिक वर्ग की सहभागिता रही है। इसमें भारतीय बौद्धिकों की भूमिका पिछलग्गू एजेंटों की रही है।

भारत-विषयक पश्चिमी अकादमिक विमर्शों में, जैसा कि अमेरिका के मेडिसन स्थित विस्कॉन्सिन विश्वविद्यालय के पिछले पैंतीस वर्षों में हुए दक्षिण-एशिया-संबंधी वार्षिक सम्मेलनों के कार्यवाहियों एवं सार-संक्षिप्त विवरणों के अवलोकन से पता चलता है, भारत को अतीत एवं दरिद्रता की जकड़न से अवरुद्ध प्रगति-विरोधी; जाति-प्रथा, सति, दहेज, भ्रूण-हत्या, अस्पृश्यता, आदि रोगों से ग्रस्त; एक जारज, बनावटी, काल्पनिक एवं बीमार राष्ट्र के रूप में एवं पश्चिम को वैद्य की भूमिका में दिखाने की रही है। भारत पर हो रहे अकादमिक शोध मुख्यतः जाति, अल्पसंख्यक वर्ग एवं स्त्री वर्ग केन्द्रित हो रहे हैं; शोध की कार्यप्रणाली यह रही है कि इन वर्गों को उत्पीड़ित के रूप में दिखाकर भारतीय सभ्यतागत दोषों को उनका कारक बताया जा सके। पश्चिम की भारत-विषयक ऐसी अवधारणा एकतरफ तो धर्म-निरपेक्ष शोध दृष्टिमानव विज्ञान, सामाजिक सिद्धान्त, इतिहास एवं स्त्रीवादी अध्ययनसे छन करआ रही है, दूसरी तरफ ऐसा ही बाइबिल/ईसाई अध्ययन स्रोतों से भी। भारत के अध्ययन के क्षेत्र में पश्चिमी देशों का संस्थागत एवं अकादमिक हस्तक्षेप बहु-आयामी एवं बहुतरफा है। यही बात भारत पर लागू नहीं होती। भारतीय प्रभावी वर्ग इस मायने में आत्म-तोष का शिकार है; वह हस्तक्षेप नहीं करता। जबकि चीन की सरकार, उद्योगजगत एवं बौद्धिक-वर्ग अपने देश के अध्ययन में रुचि लेता है, भारत में इस

बात का तुलनात्मक रूप से अभाव है। एक बात और! भारत में उत्तर-आधुनिक विमर्श को अकादमिक/बौद्धिक वर्ग में सम्मान प्राप्त है। पश्चिमी देश एवं उसके अकादमिक इस प्रक्रिया को विकाशशील देशों में बढ़ावा देते हैं। उत्तर-आधुनिक विमर्श से प्राप्त सम्मान के चलते भारतीय बौद्धिकों की एक पीढ़ी अपनी राष्ट्रीयता एवं सभ्यता के विसंरचनात्मक (deconstructive) अध्ययन की तरफ प्रेरित हुई है। इस आत्म-कशाघाती प्रक्रिया को युरोप एवं अमेरिका में रहनेवाले सम्मान प्राप्त 'सफल' भारतवंशी विद्वानों की संगति से बढ़ावा मिला है। जैसे पश्चिम ऐसे विद्वानों को अर्थ लाभ पहुँचाकर तथा पदोन्नति के अवसर देकर बढ़ावा देता रहा है। लेखन, सामाजिक कार्य एवं मानवाधिकार के पुरस्कार भी पश्चिम द्वारा सदा अच्छे उद्देश्यों से ही नहीं दिए जाते। विसंरचनात्मक विमर्श भारत में उपराष्ट्रियताओं को मान्यता देता है, विखण्डित राष्ट्र एवं विखंडित समाज को मान्य बनाता है। ऐसा अध्ययन देश में उत्पीड़ित होने का भाव (victimhood) पैदा करता है; आन्तरिक नृशंसता के साहित्य (Atrocity literature) एवं प्रतिवादी साहित्य (Protest literature) को बढ़ावा देता है। ऐसा नहीं है कि अमेरिका जैसे देश में अपने देश का विसंरचनात्मक अध्ययन नहीं होता। होता है, किन्तु वहाँ ऐसा करनेवाले विद्वानों को ऐसे भारतीय विद्वानों की तरह केन्द्रीयता एवं सम्मान प्राप्त नहीं है। वे सत्ता-केन्द्रों, मिडिया आदि से दूर हासिए पर होने से वैसी क्षति पहुँचाने में अक्षम हैं। ध्यातव्य है कि पश्चिमी संस्थान तथा-कथित अकादमिक शोधों मानव अधिकार मोर्चों एवं अलगाववादी शक्तियों को सहायता देकर भारत संबंधी विमर्श को नियंत्रित करते हैं। भारत विरोधी शक्तियों के गठबंधन का साथ देनेवाले भारतीयों की भी कमी नहीं है। जैसे में राष्ट्रीय पहचान के बोध का कमजोर होना स्वाभाविक है, जबकि अमेरिका, चीन एवं जापान में वह लगातार प्रबल होता जा रहा है; युरोपीय संघ शक्तिशाली सुपर-राष्ट्र के रूप में उभर रहा है।

अन्य दो पुस्तकें जो मेरे सामने पड़ी हैं उनमें एक सृजनात्मक लेखन की एक विद्या, कहानी से जुड़ी, प्रोफेसर पुष्पपाल सिंह की *समकालीन कहानी: नया परिप्रेक्ष्य* तथा दूसरी प्रोफेसर पाण्डेय शशिभूषण 'शीतांशु' की *उत्तर-आधुनिकता : बहु-आयासी संदर्भ* है। यहाँ मैं इन पुस्तकों की समीक्षा न करके इनसे प्राप्त जानकारी को आधार बनाकर कुछ बातें कहना चाहूँगा। इन दोनों पुस्तकों को पढ़ने से एक चौंकानेवाली बात सामने आती है कि कहानी लेखन के समस्त आन्दोलनों की सैद्धान्तिक जड़ें विदेशों में रही हैं। फिर समीक्षा के नवीनतम औजार विसंरचनावाद/उत्तर आधुनिक विमर्शके विकाश में भी किसी भारतीय लेखक/समीक्षक/बौद्धिक का कोई योगदान नहीं रहा। उनकी भूमिका विचारों के उपभोक्ता की रही है, विचारों के उत्पादक की नहीं।

पुष्पपाल सिंह की पुस्तक में विवेचित कहानियों पर सांस्कृतिक दृष्टि से विचार करें तो निराशाजनक परिदृश्य सामने आता है। सांख्यिकीय दृष्टि से देखें तो फार्मूलाबद्ध ढंग से लिखी कहानियों की भरमार है। सामाजिक परिदृश्य में अर्थाभाव, शिक्षित बेरोजगारी, अकाल, सूखा, बाढ़ आदि त्रासद स्थितियों, आर्थिक दबावों के चलते संबंधों में आए बिखराव, मूल्य हास, मूल्यों की टूटन से उत्पन्न पीड़ा एवं देश की स्थिति से घबड़ाकर विदेश-पलायन एवं उससे जुड़ी समस्याएँ, विवाह एवं प्रेम संबंधी परिवर्तित दृष्टि, स्वतंत्रचेता, संघर्षशीला नौकरीपेशा नारी और उसकी उन्मुक्त दृष्टि आदि सब कुछ है। इसके अतिरिक्त इन कहानियों में नगर/महानगर केन्द्रित संवेदना, वहाँ के जीवन से जुड़ी समस्त विषमताएँ एवं विभीषिकाएँ, खुलकर आयी हैं। राजनीति के सदर्थ में लिखी कहानियों में व्यवस्थागत भ्रष्टाचार, सिद्धान्तहीनता आदि सब कुछ है। कहानी लेखन के इस दौर ने जहाँ एक ओर नयी भाषायी भंगिमा, अभिव्यक्ति में अपूर्व ताजगी, लोच तथा सहज प्रवाह आये, वहीं भाषायी बनावटीपन, शब्द एवं व्याकरण के स्तर पर अराजक प्रयोगभी सामने आये। भाषायी सहजता का एक सीमा तक लोप हुआ। यहाँ इस बात का उल्लेख आवश्यक है कि समकालीन दौर में लिखी सभी कहानियाँ इस ढाँचे में नहीं समाती, किंतु सांख्यिकीय दृष्टि से कहानी लेखन का कमोवेश यही परिदृश्य सामने आता है।

उल्लिखित बातों से स्पष्टतः कहानी लेखन के संबंध में, और यदि कहानी लेखन की प्रवृत्ति या झुकाव को सामान्य सर्जनात्मक लेखन की प्रवृत्ति (Trend) मानें तो उसके विषय में भी, ऐसा कहा जा सकता है कि यह विखण्डन की प्रक्रिया को बहुत आगे ले जा रही है। भारत संबंधी सामाजिक विमर्श की तोड़क भूमिका जहाँ समाज और देश तक पहुँचती है, वहीं हमारा आज का सृजनात्मक साहित्य संस्कृति, मूल्य-बोध एवं परिवार को तोड़ने का कारक ही नहीं बनता, बल्कि अन्ततः निहायत असहाय अवस्था में लाकर उससे उसका आत्म-विश्वास छीनकर, व्यक्ति को भी भीतर तक तोड़ता है। वे सारे विमर्श, जिन्हें युरो-अमेरिकन बौद्धिक वर्ग भारत को कमजोर करने के लिए चला रहे हैं, उसे आगे बढ़ाने में हमारा साहित्य-सर्जक वर्ग बढ़चढ़ कर भाग ले रहा है। इसमें अधिकांश वामपंथी हैं जो दुःसग्रही हैं कुछ भोलेभाले छपास-पीड़ित मूर्ख हैं, जो इतना तो जानते ही हैं कि क्या लिखकर कहाँ छपा जा सकता है। उन्हें देश और समाज की समझ नहीं और छपने के लिए इतने व्यग्र हैं कि उसके लिए कुछ भी लिख सकते हैं। फिर कुछ लेखक बौद्धिक आतंकवादियों से त्रस्त तथा अन्य 'पॉलिटिकली करेक्ट' बातें लिखकर लाभ लेनेवाले भी हैं। फिर पश्चिम से आयातित वादों/सिद्धान्तों/विचारों का भारत जैसे गुलाम रहे देश में अपनाते, उसे बिना पचाए उगलने का फैशन तो रहा ही है। मैंने उत्तर-आधुनिकता पर दिल्ली के किसी कालेज

के एक प्रवाचक की आधी अधूरी समझ से लिखी किताब पढ़ी थी। उसने देरिदा के किसी भाषण का उल्लेख बड़ी आत्म-विमुग्धता से किया था। विडम्बना है कि विषय-वस्तु को नहीं समझने पर तथा-कथित भारतीय विद्वानों की आत्म-विमुग्धता बढ़ जाती है, जैसे मार्क्स के 'कैपिटल' के विषय में भारतीय कम्युनिस्टों की।

अंग्रेजी राज भारत में गरीबी एवं अशिक्षा फैलाने का सबसे बड़ा कारक रहा है, लेकिन उसने अपने कुकृत्यों के लिए भारत में झूठे आन्तरिक कारण खोजे। हमारा बौद्धिक वर्ग उन्हीं की बातों को लगातार कह कर देश को कमजोर करता रहता है। आवश्यकता है, भारतीय बौद्धिक परिवेश में बदलाव लाने की।

**बी.बी. कुमार**

### श्रद्धांजलि

सहसा विश्वास नहीं होता कि डॉ. कुमार विमल नहीं रहे। उस दिन जब वे अस्पताल जा रहे थे तो फोन पर उनसे बात हुई थी। वे हमारे आग्रह पर सदा चिन्तन-सृजन एवं डॉयलाग में लिखते रहते थे। उनसे हमें मार्ग-दर्शन तो मिलता ही था। उन्हें हमारी विनम्र श्रद्धांजलि। सम्पादक

## हिंदी साहित्य में सांस्कृतिक स्वाधीनता की चुनौती

**रमेश चंद्र शाह\***

1. पाश्चात्य प्रभाव ग्रहण करना हमारी निरुपायता ही नहीं, अनिवार्यता भी है। किंतु इस सचेतनता के फलस्वरूप हम अपनी सुरुचि की ओर प्रत्यावर्तन क्यों न करें? हमारे मौलिक ज्ञान-प्रतीक दुर्बल तो नहीं हैं।

प्रसाद

2. ...हमें परखने और मुकाबले करने की शक्ति को संगठित करना होगा। हमें एक आलोचक राष्ट्र का निर्माण करना होगा।

अज्ञेय (त्रिशंकु)

3. आज विश्व मानस के सम्मुख सबसे गहरा प्रश्न : कैसे त्रासजनित विवेक को पावनताजनित विवेक दिया जाए?

विजयदेव नारायण साही

हिंदी साहित्य में सांस्कृतिक स्वाधीनता की चुनौती बहुत पहले सेभक्ति आंदोलन के जमाने से ही महसूस की जाती रही है। चाहे निर्गुण और सगुण के बीच 'उभय प्रबोधक चतुर दुभाषी' की तरह अपने 'नामनिरूपण-नाम-जतन' रूपी कविकर्म को पहचानने वाले तुलसी हों, चाहे 'नाम अमल' वाले कबीर हों, सभी जगह हम एक सुदृढ़ व्यवसायात्मिका बुद्धि को, सात्त्विक कठोरता को सक्रिय पाते हैं। दो बातें इस भक्तिकाव्य की सांस्कृतिक स्वाधीनता के बारे में स्पष्ट उजागर होती हैं : एक तो यह कि उसमें रहस्यानुभूति का समावेश तो निस्संदेह है किंतु उसे सीधे सपाट ढंग से यूरोपीय 'मिस्टिसिज्म' से समीकृत नहीं किया जा सकता; दूसरी ओर इस भक्तिकाव्य की जो लोकमंगलविधायिनी शक्ति है, वह स्पष्ट ही उसकी परंपरागत लोकोत्तर अभीप्सा से ही प्रेरित-परिभाषित होती है। तथाकथित प्रगतिवादी-मार्क्सवादी

\*रमेश चन्द्र शाह, एम-4 निरालानगर, भदभदा रोड, भोपाल462003

उसे अपने काम का बनाने के लिए उसकी जो एकांगी-लोकायतिक व्याख्या करते हैं, वह अपव्याख्या ही है। उससे न केवल भक्ति के स्वरूप का घोर अज्ञान प्रकट होता है, बल्कि उसके अनर्थपूर्ण दुरुपयोग को भी बढ़ावा मिलता है। अपनी ही परंपरा से ऐसा परतंत्र परजीवी संबंध बनाने की अपेक्षा तो बेहतर यही है कि हम उससे विद्रोह करके ही अपने रचनात्मक उन्मोचन की राह निकालें। क्या हम नहीं देखते कि हिंदी साहित्य के आधुनिक दौर में खरे संदेह और खरे विद्रोह से आरंभ करने वाला अज्ञेय जैसा कवि आगे चलकर अपने स्वाधीन सांस्कृतिक विवेक के बूते ही परंपरा को अनुभूति के स्तर पर स्वायत्त करता है, रास्ते की सारी भटकनों के बावजूद, निर्जल नकारों के उमड़ते पारावार का सामना करने के आंतरिक साहस के फलस्वरूप ही उस जगह पहुँच पाता है, जहाँ उसे 'नर की अनझिप आँखों में नारायण की व्यथा' दिखाई दे जाती है? क्या यहाँ वह अपने अनजाने ही अपने अग्रज कवि की उस मर्मानुभूति से नहीं जुड़ जाता जो चौरासी लाख योनियों में विस्तृत जीव-सृष्टि को सियाराममय देखती थी? उसी तरह जब वह भीड़ों में जब-तब किसी से आँखें मिल जाने पर उसे 'अंगार-सा, भगवान-सा अकेला' देख लेता है, तब क्या उसकी इस अनुभूति का कबीर के 'पावक रूपी साँझिया' से कोई संबंध नहीं, जो 'सब घट में समाया हुआ है'?

कबीर की ही उक्ति है कि 'हीरा वही सराहिए, जो सहै घनन की चोट'। प्रख्यात आधुनिक अंग्रेजी कवि डब्ल्यू. एच. ऑडेन की कही बात यहाँ अनायास याद आ रही है कि कविता अकसर अपमान और दलन में से जन्म लेती है। एक विजातीय सभ्यता के आक्रमण से मिला मर्माघात किस तरह एक समूची संस्कृति की आच्छतप्राय आत्म-प्रत्याभिज्ञा को उकसाने-जमाने का निमित्त बन जाता है, भक्ति आंदोलन इसका जीता-जागता उदाहरण है। वह सच्चे अर्थों में एक देशव्यापी पुनर्जागरण था, जिसकी अनिवार्य शर्त थी एकदम नीचे से, लोकजीवन और लोकभाषाओं के भीतर से संस्कृति के आत्म-नवीकरण को संभव करने वाला आन्दोलन। यह अकारण नहीं था कि भक्त कवि को न केवल प्राकृत जन के गुणगान से ग्लानि में पड़ी गिरा का उल्लेख करने की जरूरत पड़ी, बल्कि पाखंड विवाद के करण लुप्त हो गए सद्ग्रंथों का भी। कबीर के मुहावरे में कहें तो 'आत्म खबरि न जाना' की उस काल का कटु यथार्थ था, जैसे कि एक दूसरे स्तर पर आज भी है। ऐसे में सामान्यजन और समाज के जाग्रत आत्म केंद्रों के बीच फिर से विद्युत्तरंग प्रवाहित करने की जीवंत संबंध स्थापित करने की जरूरत थी, टूटते-बिखरते समाज को भावात्मक एकता के सूत्र में जोड़ने वाली संजीवनी शक्ति की आवश्यकता थी। इस आवश्यकता की पुकार के प्रत्युत्तर में ही भक्ति आंदोलन का अभूतपूर्व विस्फोट और विस्तार हुआ। निराला की प्रसिद्ध कविता 'तुलसीदास' के शब्दों में कहें तो भक्ति वह 'अकल कला' साबित हुई जो 'एकल छिन्न' को गहती और जोड़ती है।

हो गए आज जो खिन्न-खिन्न  
छुट-छुटकर दल से भिन्न-भिन्न  
वह अकल कला गह एकल छिन्न जोड़ेगी।

जायसी भी अपनी काव्य-कथा के सूत्रों को 'अपने हृदय के रक्त की लेई' से ही जोड़ने की बात करते हैं। जहाँ तक समता-समदर्शिता का प्रश्न है, वह एक समूचे तत्त्व-ज्ञान-प्रेरित-दर्शन का सत्य है; दो आयामों में सिकुड़ी तथाकथित सामाजिकता मात्र का नहीं। संत या भक्ति कवि किसी वर्ग के प्रतिनिधि और पैरोकार नहीं हुआ करते। मानवीय अवस्थिति की उसके बंधन और संकट की उनकी समझ बहुत गहरी होती है। किंतु सामयिक आग्रहों के चलते भक्तों-संतों की कविता भी दुर्व्याख्या विषमूर्च्छिता प्रतीत होने लगे तो कुछ अजब नहीं।

ध्यान देने की बात यह भी है कि भक्तकवितुलसीदास तो विशेषकर एक दोहरी धर्मग्लानि के साक्षी-उद्घाटक हैं। सर्वोच्च चिन्तमूर्ति पर जिस दिव्य अनुभूति का साक्षात्कार किया गया था, उस वस्तुतः आध्यात्मिक और नव-नवोन्मेषशाली पथ को छोड़कर जो 'कपट-कलेवर' में लिपटे, 'कलिमल' में आपादमस्तक सने हुए लोग परम सत्ता के संदेशवाहक बने पृथ्वी को आतंकित करते फिर रहे हैं, वे परद्रोही तो वंचकों की श्रेणी में आएँगे ही, किंतु भीतर वालों ने भी अपने प्रमाद के चलते इस वंचना और 'कलिमल' को बढ़ाने में कोई कसर छोड़ी है। कवि तुलसीदास को अपने से भिन्न उपासना-पद्धतियों को सम्मान-स्वीकृति देने में भला क्या परेशानी है! परेशानी जो है, वह अपने ही मार्ग को एकमात्र मार्ग मानने और बाकी सारी सारे मानव-समुदायों को जाहिल और घृणित मान बैठने और उसी मुताबिक बरतने वाले खरदूषणों से है। कपटमुनि के रचे प्रपंच के वशीभूत होकर प्रतापभानु कालांतर में अपने समाज-सहित जिस निशाचर कोटि में जनमता है उसके लिए कवि ने 'कृपारहित', 'हिंसक' और 'विश्व-परितापी' जैसे विशेषणों का प्रयोग यँही नहीं कर दिया। अपनी ओर से उसने एक नए असत् (ईविल) और अंधकार को पहचानने और उसे उसके सही नाम से पुकारने में कोई भूल नहीं की है। "अतिसय देखि धरम कै ग्लानी/परम सभित धरा अकुलानी/गिरि सरि सिंधु भए नहिं मोही/जस मोहि गरुअ एक परद्रोही" यह और किसी से नहीं, स्वयं पृथ्वी से ही कहलवाया है कवि ने। पृथ्वी जो रावण से अकुलाई हुई है। निश्चय ही 'आनुशंस्य' को सर्वोच्च मूल्य की तरह स्थापित करने वाला 'महाभारत' का कवि भी 'ईविल' से न केवल अपरिचित नहीं था, बल्कि उससे सीधे आँख मिला सकता था। किंतु वह एक दूसरे युग का 'असत्' या अंधकार था। जबकि तुलसी के युग का 'कलिमल' एक दूसरा और अप्रत्याशित रूप धारण कर चुका है। 'मानस' के कवि को इस दूसरे अँधेरे का इलाज ढूँढना और पाना है और अपनी सांस्कृतिक जड़ों के भीतर से ही। उसकी समस्या वाल्मीकि और व्यास से भिन्न है।

वाल्मीकि के सामने जो प्रश्न था वह था 'कोऽन्वास्मेन्सांपूत' लोके?' 'मानस' के कवि के सामने जो प्रश्न है, वह यह है कि त्राणकर्ता है कहाँ? किसी को प्रभु का अता-पता मालूम नहीं है। 'विश्वातीत विश्वात्मा' को, 'अगजगमय सब रहित विरागी' को कहाँ पकड़ा जाए?' 'प्रेम से' शंकर कहते हैं : 'प्रेम ते' प्रभु प्रगटइ जिमि आगी।' क्या यह इलाज भी उस रोग की तरह ही 'नया' नहीं है।

'खल-वंदना' की जरूरत भी इस कवि को क्योंकर पड़ी? ऐसा भी नहीं है कि इस तरह के खलों के हृदय-परिवर्तन की वे भावुक उम्मीद जता रहे थे। "बायस पलिहहिं अति अनुरागा/होहिं निरामिष कबहूँ कि कागा..." लगता है अपने जीवन में कवि को कई तरह के खलों से पाला पड़ा होगा, तभी न वे कह गए कि 'खल सम कलह न भल, नहिं प्रीती'। ठीक है कि 'खलउ करहिं भल पाई सुसंगु...किंतु उसी साँस में वे यह भी जतला ही देते हैं कि 'मिटइ न मलिन प्रभाव अभंगू'। क्या मानस का उद्देश्य मिल्टन के महाकाव्य की तरह केवल *टू जस्टिफाइ द वेज ऑव गौड टु मैन* ही है? एक व्याख्या खलत्व की यही मानकर चलती है कि बुरा हमेशा 'दूसरा' है। ('द अदर इज माई हैल' दूसरे ही मेरा नरक है)। दूसरा, यानी वह भी, जो हमारी तरह नहीं है; हमारे गिरोह या मत का नहीं है। अब इस लौकिक पूर्वग्रह की पारलौकिक प्रतिच्छवि भी होगी ही। परम सत्ता को यदि सृष्टिकर्ता, परम दयालु, परम न्यायी मानना है तो फिर यह भी मानना होगा कि असत् और अघ का स्रोत कोई दूसरी ही समानांतर सत्ता है जो परमपिता का प्रतिलोम और सनातन वैरी 'शैतान' है। मानव भी शैतान की तरह इसीलिए न स्वर्ग से निर्वासितच्युत हुआ कि उसने शैतान के प्रलोभन में पड़कर ईश्वरादेश का उल्लंघन किया? तब सवाल उठता है कि इस च्युतावस्था से उसका उद्धार कैसे हो? तब आती है एकमात्र मसीहा-त्राता की परिकल्पना, जो स्वयं परमपिता का पुत्र है। अंग्रेजी के प्रख्यात कवि-आलोचक विलियम एम्पसन ने इसी धर्मबीज और मिथक पर शंका उठाते हुए प्रश्न किया है कि "यह कैसा परमपिता है जो अपने एकमात्र पुत्र की बलि से ही तुष्ट हो सकता है?"

इसमें संदेह नहीं कि 'अवतार' और 'मसीहा' की अवधारणाओं के बीच गहरा और गुणात्मक अंतर है : वैसे ही, जैसे पैगन (बहुदेववादी) मानसिकता के साथबिना उसे विस्थापित करने की जरा भी जरूरत महसूस किएबखूबी निभाने वाले अद्वैत दर्शन तथा एकेश्वरवाद के बीच है। प्रस्तुत विषय के प्रसंग में ही क्या यह प्रश्न यहाँ उठाया जाना समीचीन नहीं है, कि क्या सहस्राब्दियों से फलती फूलती चली आई उक्त विश्व-व्यापी और चराचरनिष्ठ पैगन मानसिकता एवं ऐतिहासिक थियोलॉजिकल साम्राज्यवाद द्वारा बलात् विस्थापन और विध्वंस ही मनुष्य-जाति के इतिहास का सर्वाधिक दारुण व्यंग्य-विपर्यय नहीं था? और क्या जिसे हम यहाँ 'सांस्कृतिक स्वाधीनता की चुनौती' करके अभिहित कर रहे हैं, उसके लिए भी सबसे बड़ा और गहरा शक्ति-स्रोत हमारी संस्कृति की जड़ों में ही निहित और समूचे भारती वाङ्मय में

निरंतर प्रतिफलित यह चराचरवादी अद्वैत दृष्टि ही नहीं है? मसीही और ऐतिहासिक धर्मदृष्टि के लिए बेशक इसे पचाना असंभव नहीं तो दुष्कर अवश्य है। उनकी समझ में नहीं आता कि यह कैसा परमेश्वर है जो अवतार लेने के लिए सृष्टि की मुकुटमणिस्वरूप मनुष्य योनि को ही नहीं, शुकर और कच्छप और मत्स्य सरीखी अधम योनियों को भी मजे से अपना ले सकता है? भारतीय संस्कृति चूँकि शैतान को जरूरी नहीं समझती, इसलिए एकमात्र मसीहा और एकमात्र मार्ग की अनिवार्यता कोधर्म विश्वासी और इनफिडेल (काफिर) के बीच मानव-जाति के बँटवारे को भीस्वीकार नहीं करती। इसीलिए वह पौराणिक होते हुए भी आधुनिक वैज्ञानिक बुद्धि के तर्कों से नहीं कटती, बल्कि इसके ठीक उलट ऐतिहासिक धर्मों की तुलना में उनसे सीधे समर्थित और पुष्ट ही होती है। ऐसा न होता तो बनारस का पंडित डार्विन के ग्रंथ का संस्कृत में अनुवाद कर डालने को क्यों उत्साहित हो उठता? सच पूछें तो हिंदी साहित्य में ही क्यों, समूचे भारतीय जीवन-बोध और विश्वबोध को सबसे बड़ी चुनौती जो फिलवक्त उपस्थित है, वह उक्त साम्राज्यवादी और विभाजनमूलक, प्रकृतिद्रोही आइडियोलॉजी से ही है। और बिना उससे सीधे टकराए बिना स्वयं उसी को चुनौती दिए हम अपनी सांस्कृतिक स्वाधीनता की रक्षा में समर्थ न होंगे। यह भी, कि यह संकट समूचे विश्व का है और इसके प्रतिकार की भारतीय सामर्थ्य का उभरकर सामने आना समूचे विश्व के संदर्भ में अर्थ रखता है।

मुझे भक्तिकाव्य और उसमें भी तुलसीदास के कृतित्व को आरंभ में ही रेखांकित करना इसलिए आवश्यक लगा कि एक तो भक्तिकाल उचित ही हिंदी साहित्य का स्वर्णयुग माना जाता रहा है; और दूसरे इसलिए भी कि आधुनिक दौर में उससे जो विचलन अनिवार्य-सा हो गया था अथवा मान लिया गया था, उसके चलते निराला सरीखे एकाध अपवाद की बात जाने दें, तो भक्तिकाल से हमारा सर्जनात्मक संबंध भी गड़बड़ा गया जिसे ठीक करने कीपुनर्मूल्यांकनात्मक अध्यवसाय द्वारा आवश्यक संतुलन फिर से लौटा लेने की जरूरत पिछले दिनों महसूस की जाने लगी है। हिंदी आलोचना के सबसे समर्थ आधारस्तंभ आचार्य रामचंद्र शुक्ल ने जो तुलसीदास को अपने साहित्य विवेचन में इतना महत्त्वपूर्ण केंद्रीय स्थान दिया, वह हिंदी साहित्य में सांस्कृतिक स्वाधीनता की उनकी अपनी समझ और दृष्टि के अनुरूप ही था। यह अकारण नहीं था कि शुक्लजी समेत हिंदी के कई अग्रगामी लेखक वैज्ञानिक चिंतन के प्रति आकर्षित हुए। परंपरा इसमें रोड़ा नहीं बन सकती थी क्योंकि वह जूडियो-क्रिश्चियन धर्मदृष्टि की तरह विज्ञान से बेमेल नहीं थी। बेमेल जो हो सकता था, वह था इस वैज्ञानिक संस्कृति का प्रकृति के साथ विशुद्ध विजिगीक्षा वाला संबंध और पश्चिम की काल-दृष्टि। यहाँ हम याद कर सकते हैं कि तुलसीदास को अपनी



साहित्य दृष्टि के केंद्र में रखनेवाले आचार्य शुक्ल ने जहाँ एक ओर 'रिड्ल ऑव द यूनिवर्स' को हिंदी में ले आने की जरूरत समझी, वहीं उसी प्रयत्न की भूमिका में शामी और पैगंबरी धर्मों की भेद-दृष्टि का प्रत्याख्यान करने की भी। काव्य-तत्त्व का सैद्धांतिक विवेचन करते हुए और यूरोपीय आलोचना का वाजिब प्रभाव ग्रहण करते हुए भी उन्होंने ठेठ हिंदुस्तानी दार्शनिक शब्दावली का आश्रय लेते हुए सभ्यता के 'आवरण और कविता' की बात की; 'प्रकृत रूप के प्रत्यक्षीकरण' की बात की। कहा, कि... "इस प्रच्छन्नता का उद्घाटन कवि का पहला काम होगा। ज्यों-ज्यों सभ्यता बढ़ेगी, यह काम भी बढ़ता जाएगा। मनुष्य की रागात्मिका वृत्ति से सीधा संबंध रखनेवाले रूपों को सामने लाने के लिए उसे बहुत से आवरणों को हटाना पड़ेगा।" ..ध्यान देने की बात यह है कि यह कोई महज रोमानी या मनमाने सोच वाली प्रतिक्रिया नहीं है, बल्कि आधुनिक सभ्यता के संकट के यथातथ्य बोध से उपजी हुई अग्रगामी आलोचना-दृष्टि है।

मैथ्यू आर्नोल्ड ने कहा था कि "आने वाले युगों में कविता को धर्म के रिक्त स्थान की पूर्ति करनी होगी।" किंतु हमारे यहाँ तो धर्म और कविता के बीच उस तरह का न केवल कभी कोई तनाव नहीं रहा, बल्कि, अक्सर, धर्म-संस्थापन का कार्य भी कवित्व-शक्ति के माध्यम से ही संपन्न होता रहा है। शुक्ल जी के परवर्ती आलोचक लीविस ने कहा था कि जैसे-जैसे सांस्कृतिक परंपराएँ और सामाजिक संरचनाएँ विघटित हो रही हैं, वैसे-वैसे अपनी साहित्यिक परंपरा को विघटन से बचाना अधिकाधिक अनिवार्य कर्तव्य बनता जा रहा है।" शुक्ल जी और उनके परवर्ती लेखक आलोचक भी अपनी सांस्कृतिक परंपरा और उसकी शब्दावली के जरिए बदलती हुई जगत्-गति को परखते हुए साहित्य की इसी बढ़ी हुई जिम्मेदारी को रेखांकित करते हैं। 'कविता से मनुष्य-भाव की रक्षा होती है' कहने वाले शुक्ल जी को 'स्थूलकृत वैज्ञानिक दृष्टिकोण' के बढ़ते दबदबे की वैसी चिंता क्यों नहीं सताती जैसी लीविस को सताती थी : क्योंकि स्वभावतः उनके समय में अभी विज्ञान का धनात्मक पक्ष ही उनके सामने था। किंतु जब वे कहते हैं कि, "कविता वह साधन है, जिसके द्वारा मानवैतर सृष्टि-के साथ मनुष्य के रागात्मक संबंध की रक्षा और निर्वाह होता है," तो वे प्रकारांतर से न केवल स्थूल वैज्ञानिक दृष्टिकोण की, बल्कि उसकी जड़ में जो प्रकृति-विरोधी और आत्मोन्मुखी के उलट वस्तुन्मुखी मैटाफिजिकल तर्क-पद्धति की प्रधानता रही, उसका भी अनजाने ही सचोट प्रत्याख्यान कर जाते हैं।

इसी सिलसिले में जयशंकर प्रसाद का उल्लेख भी आवश्यक है। परवर्ती लेखक-विचारक अज्ञेय ने 'त्रिशंकु' में उनके इतिहास-बोध को उचित ही महत्त्व दिया था। उन्होंने माना और नाटकों में ही नहीं, 'काव्य और कला' में संकलित निबंधों में भी आधुनिक

मानववाद के उस स्वाधीन भारतीय स्वरूप की भी रेखाएँ कुछ और स्पष्ट होकर उभरती हैं जिसका पहला खाका मैथिलीशरण गुप्त और आचार्य शुक्ल ने खींचा था और जिसमें बाद में अज्ञेय ने भी रंग भरे। कोई भी देख सकता है कि प्रसाद का (और उनके बाद अज्ञेय और साही सरीखे साहित्यकारों का) संस्कृति-चिंतन तत्कालिन प्रतिभा के आधुनिक लेखकों के तुलना में कहीं अधिक भविष्योन्मुखी और प्रगतिशील है। ब्राह्मणत्व की 'शाश्वत सार्वभौम बुद्धिवैभव' के रूप में व्याख्या करने वाला हिंदी का यह कवि-चिंतक नए बुद्धिवादी युग की चुनौतियों का पर्याप्त प्रत्युत्तर दे सकने वाले भारतीय बुद्धिजीवन की सही और ठोस बुनियाद रखने के लिए प्रयत्नशील है। और उसी सिलसिले में कहता है कि "हमें नई चेतना और आधुनिक समय को स्वायत्त करना होगा।" ...यह भी कि "पाश्चात्य प्रभाव ग्रहण करना हमारी केवल निरुपायता ही नहीं अनिवार्यता भी है।" ...किंतु साथ में वह यह जोड़ना भी नहीं भूलता कि... "इस सचेतनता के फलस्वरूप हम अपनी सुरुचि की ओर प्रत्यावर्तन क्यों न करें? हमारे मौलिक ज्ञान-प्रतीक दुर्बल तो नहीं हैं।"

यह मानी हुई बात है कि युग अपनी परंपरा भी आपको यूँ ही संत-मेंत में नहीं मिल जाती। उसे स्वायत्त करने के लिए भी लंबा और गहरा अध्यवसाय चाहिए। यह अध्यवसाय हमें प्रसाद जी के कृतित्व में सबसे साफ तौर पर महसूस होता है हालाँकि उनसे पूर्व बालमुकुंद गुप्त सरीखे अनूठे निबंधकार-पत्रकार के यहाँ, और कई अन्य पूर्ववर्ती लेखकों में भी अपेक्षाकृत हल्के-फुल्के स्तरों पर इस तरह का अर्जित आत्मविश्वास सक्रिय देखा जा सकता है। प्रसाद जी के यहाँ तो, क्या रचना, क्या चिंतन, दोनों ही स्तरों पर उस इतिहास-बोध का अंतर्साक्ष्य बोलता है जिसमें टी.एस. एलियट की प्रसिद्ध उक्ति के अनुसार, "न केवल अतीत के अतीतपन का विवेक निहित है, बल्कि उसकी वर्तमानता का अनुभव भी।" निश्चय ही, इतिहास और परंपरा एक नहीं हैं; और जैसा कि हिंदी के आधुनिकता वाले दौर के सर्वाधिक यशस्वी साहित्यकार अज्ञेय ने एक जगह लिखा है "इतिहास से मुक्ति हमारी परंपरा की सबसे बड़ी देन है।" किंतु अज्ञेय ने इसके साथ ही साथ यह भी कहा है कि "अवस्थिति का अद्वितीय बोध भारतीय चरित्र की बहुत बड़ी विशेषता है और यह बहुत हद तक उस कमी को पूरा कर देता है जिसका आरोप हम पर लगाया जाता रहा है इतिहास-बोध की कमी का।" अज्ञेय ही आगे तत्कालीन परिवेश में प्रचारित एक आत्म-द्रोही और बेहद रपटीली प्रवृत्ति को भी लक्षित करते हुए हमें उससे सावधान करते हैं कि "हमें निरंतर इतिहास-बोध की दीक्षा दी जा रही है और अवस्थिति-बोध का संस्कार मिटाया जा रहा है।" यह भी ध्यान देने योग्य बात है कि प्रकृति के साथ अज्ञेय का संबंध बहुत गहरा और जैविक है जो कि एलियट बात भले होकर के भी अपनी अस्थि-मज्जा में होने की करे, प्राक्-ईसाई पैगन प्रकृति-संवेदन उसकी कृतियों में कहीं नहीं बोलता। इसी तरह विज्ञान के प्रति भी अज्ञेय का दृष्टिकोण सकारात्मक है। एलियट ने मानववादी दृष्टि



का प्रत्याख्यान किया था और धार्मिक दृष्टियानी, ईसाई दृष्टि को अधिक संगत और यथार्थपरक माना था। अज्ञेय की निष्ठा मानवेंद्रनाथ राय के रेडीकल ह्यूमनिज्म से प्रभावित अवश्य हुई किंतु उस दृष्टि में उत्तरोत्तर गुणात्मक उत्कर्ष देखा जा सकता है, जो भारतीय परंपरा से उन्हें जोड़े बिना नहीं रहता। तभी तो वे सवाल उठाते हैं कि 'क्या मानव-केंद्रित आध्यात्मिकता संभव है?' तभी तो 'सत्य, ऋत, तप और आवर्ती काल' को वे मानव जीवन के बुनियादी मूल्य मानते हैं और कहते हैं कि "ये सनातन मूल्य हैं और वस्तुतः सनातन धर्म कोई है तो इन्हीं पर आधारित है।"

इसी क्रम में अज्ञेय के बाद विजयदेव नारायण साही का उल्लेख भी प्रासंगिक होगा। मनुष्य की जीवनानुभूति के धार्मिक आयाम के प्रति साहीजी में एक ऐसा संवेदनशील खुलापन मिलता है जैसा कम ही लेखकों में मिलेगा। मगर इस मामले में अपने दार्शनिक पक्ष को वे निर्णायक रूप से तय करके नहीं बताते। जहाँ उन्हीं के समकालीन कवि कुँवरनारायण समकालीन चिंतन में धार्मिक शब्दावली की वापसी पर ध्यान देते हैं और जानना चाहते हैं कि यह प्रवृत्ति प्रत्यासन्न संकट से एक तरह का पलायन सूचित करती है या कि अमानवीयता के खिलाफ एक नैतिक मोर्चे का आशवासन देती है, वहाँ साहीजी प्रेम-तत्त्व को बुनियादी महत्त्व देते हुए इतिहास-तत्त्व को कभी आँखों से ओझल नहीं करते। वे कबीर के प्रशंसक हैं पर कबीर से उनकी मुश्किल हल नहीं होती क्योंकि उन्हीं के कथनानुसार, "कबीरदास की निचोड़ धर्म के पावन तत्त्व को मनुष्य की सहज आंतरिकता में सीमित कर देती है; बाहर की बातें इस पावनता के घेरे से बाहर हो जाती हैं।" जबकि साहीजी बाहर और भीतर, इतिहास और मिथक दोनों को समेटने वाली संवेदना और शक्ति चाहते हैं, नैतिक और शाक्त के द्वंद का एक अधिक संतोषदायी हल माँगते हैं। अंततः जायसी में उन्हें इस बाहर और भीतर दोनों को सहेज सकने वाली शक्ति और संवेदना के दर्शन होते हैं। वे 'पद्मावत' में सत्य के दोनों स्तरों की बेलाग मुठभेड़ देखते-दिखाते हैं और पाते हैं कि जायसी न प्रेम के मामले में समझौता करते हैं, न इतिहास के मामले में। साहीजी के ही शब्दों में, "जायसी कहीं लीपा-पोती नहीं करते... बैकुंठी प्रेम का प्रतीक विचारा चित्तौड़ दिल्ली के प्रबल प्रताप के सामने कहाँ ठहरता?" रतन सेनपद्मावती का वह सारा मायालोक अलाउद्दीन की जीत की घड़ी आते ही जलकर खाक हो जाता है। लेकिन सतही इस्लाम की जीत की वह घड़ी, उसकी नितांत निरर्थकता की घड़ी बन जाती है। यह पद्मावती की निष्कलंक लपेटों के आगे उसकी समूची हार की भी घड़ी है।..."

जायसी की खोज से पूर्व हिंदुस्तानी जीवन की जिस 'आंतरिक लय' को अपनी सारी मूल्यचिंता के संदर्भ-ग्रंथ की तरह साहीजी बार-बार उलटते-पुलटते हैं, उसे वे

कहाँ पाते हैं? वेद, पुराण एवं उपनिषदों में? नहीं, वे उसे पाते हैं कालिदास में। कालिदास साहीजी के लिए दर्शन और अनुभूति के विशिष्ट अद्वैत को चरितार्थ करने वाले कवि हैं। कवि येट्स ने कहीं 'पूरब के देशों के निर्दोष इतिहास' की बात की है, सवाल उठाया है कि "जब यह निर्दोष पूरब जागकर पश्चिम के पापों के खिलाफ उठकर खड़ा हो जाएगा तब यह दर्पभरा मदमाता पश्चिम कैसे उसका सामना करेगा?" अपने उस प्रसिद्ध लघुमानव वाले लेख में साहीजी साम्राज्यवादी यूरोप के साहित्य में व्याप्त अपराध-भावना का उल्लेख करते हैं और इस तथ्य को रेखांकित करते हैं कि हमारे साहित्य में वैसी अपराध-भावना नहीं है। तब फिर, साहीजी की सोच के मुताबिक क्यों न भारत का साहित्य और भारत का समाजवाद एक ऐसे विशिष्ट अद्वैत की ओर बढ़ें, जो गाँधी के तत्कथित 'सरल' चिंतन और नेहरू की तथाकथित द्वंद्वात्मकता दोनों को आत्मविश्वासपूर्वक अपने जीवन-बोध की आंतरिक लय से भेदता हुआ एक नया संतुलन निकाले, जो सत्याग्रह-युग से भी अलग अपनी पहचान स्थापित करे और बाद की सारी नाटकीयता से भी। अपने उसी लेख में साही जी यह घोषणा करते हैं कि "...भारतेंदु हरिश्चंद्र के जमाने से आज तक मनुष्य को उसकी चिरंतन परिवर्तनशीलता में समझने का जिम्मा हिंदी साहित्य ने उठा लिया है। किंतु कठिनाई यह है कि साहीजी जहाँ एक ओर गांधी से अभिभूत और अनुप्राणित दिखते हैं, वहीं दूसरी ओर, उन्हें नीत्शे का 'ईश्वर मर चुका है' वाला निहिलिस्ट विषाद भी व्याकुल किए हुए है। साथ ही, यूनानी ट्रैजिक दृष्टि से भी उन्हें खासा गहरा लगाव है। जहाँ एक में उन्हें 'अपराजेय संकल्प' दिखाई देता है, वहीं दूसरे में अपराजेय विवशता का भास। दोनों साहीजी की नजर में ठेठ बीसवीं सदी की ही लाक्षणिक अभिव्यक्तियाँ हैं। तो, अगर सत्याग्रह-युग स्वयं साहीजी के मुताबिक नैतिकता में शक्ति के विलयन' की कथा है तो क्या आज युग उसे उलटकर शक्ति में नैतिकता के विलयन की कथा बनाने जा रहा है? साहीजी यह प्रश्न इस तरह नहीं पूछते। यह आकस्मिक संयोग भर नहीं है कि 'मछलीघर' की पहली ही कविता के आरंभ में जहाँ हल्की टंकार के साथ एक तीर सामने अंतरिक्ष की ओर छूटता दिखाई देता है, वहीं एक 'मरा हुआ पक्षी' और पीछे एक 'काली चट्टान' भी दिखती है जिस पर 'बेतहाशा धारा अपना सिर पटक रही है।' यह भी उल्लेखनीय है कि आगे धर्मनिरपेक्षता के सिलसिले में घुलावटी रसायन की खोज में साहीजी कालिदासीय लय की चिंता को लॉघरक जायसी में डूबते हैं, इतिहास में डूबकर ही इतिहास से उबारने का अर्थ पाने के लिए। पर दोनों ही चिंताएँ दरअसल उनकी उस असली और जीवनव्यापी चिंता का ही अंग हैं जो उन्हें हिंदी साहित्य में सांस्कृतिक स्वाधीनता की चुनौती को गहराई से महसूस करने वाले और उस चुनौती का अपने ही ढंग से प्रत्युत्तर भी खोजने वाले एक महत्त्वपूर्ण लेखक के रूप में स्थापित करती है। वह जीवनव्यापी चिंता वही है जिसे हमने इस लेख के आरंभ में उद्धरण की तरह टाँका है : 'त्रासजनित विवेक को पावनताजनित विवेक में

बदलने की चिंता' जो वास्तव में भारतीय जीवन की आंतरिक (कह लीजिए, कालिदासीय) लय है और साथ ही, आज के विश्व-मानस के सम्मुख मँडराता हुआ सबसे गहरा प्रश्न भी।

यहाँ हम याद करें कि अपनी 'सहज साधना' नामक पुस्तक का उपसंहार करते हुए आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी ने कहा था कि "आज मशीन केवल स्थूल रूप में ही हमारी सभ्यता को यंत्रचालित नहीं बना रही है, बल्कि हमारे सामाजिक संघटन एवं बौद्धिक विवेचन भी यांत्रिकता का रूप ग्रहण करते जा रहे हैं। यह बात ठेठ आज के हमारे साहित्यिक-बौद्धिक परिवेश को देखते हुए हमारे सिर पर चढ़कर बोलती प्रतीत होने लगी है। एक तो वैसे ही दार्शनिक, वैज्ञानिक और साहित्यिक बुद्धिजीवियों के बीच संवाद का अभाव है, दूसरे हमारे बीच जो भी ऐसी गिनती की साहित्यिक प्रतिभाएँ सक्रिय रही भी हैं जिन्होंने वर्तमान भारतीय समाज और राजनीतिक परिदृश्य में घर करती जा रही मूल्यमूढ़ता और वैचारिक आत्महीनता को अपनी उत्तरदायी और प्रखर विचार-संवेदना की सामर्थ्य से दूर करने का उद्यम किया हैनिर्मल वर्मा की तरह, मसलनउसे सरासर अनदेखा किया जाता है; उसकी जैसी प्रतिध्वनि सुनाई देनी चाहिए, नहीं सुनाई पड़ती। ऐसा कदापि नहीं है कि 'वैचारिक स्वराज' की खोज साहित्य और साहित्येतर विद्वत्ता के क्षेत्रों में एकदम बुझ ही गई होवैसी तेजस्विता के उदाहरण भी हमारे सामने हैं; किंतु वह सब हमारे युवा लेखकों के लिए जैसे कोई महत्त्व ही नहीं रखता। न सांस्कृतिक स्वाधीनता की चुनौतीजो उपर्युक्त साहित्यकारों के लिए इस कदर प्रखर और प्रासंगिक थीऔर जिसे हम अभी तक निर्मल वर्मा के निबंधों तक में निरंतर सक्रिय देखते हैंवही जैसे हमारी युवतर पीढ़ी के लिए अप्रासंगिक और अर्थहीन हो गई है। ऐसा क्यों है, इस पर गंभीरता से विचार अपेक्षित है।

आचार्य द्विवेदी ने सिर्फ मानवतावाद को एक अस्पष्ट और लक्षणहीन तत्त्ववाद' बताया था और कहा था कि 'त्रिन्मुखी मानवता का सिद्धांत स्पष्ट और सोद्देश्य विचारवाद है।' यह भी, कि 'समस्त मानवीय प्रयत्नों को यह विचारधारा एक स्पष्ट, सुनिश्चित तत्त्ववाद देने में समर्थ है। यदि ऐसा है कि तो वह तत्त्ववाद कहाँ है? समसामयिक साहित्यिक-परिदृश्य में उसकी कहीं भी कोई गूँज क्यों नहीं सुनाई देती? दूसरी ओर पं. विद्यानिवास मिश्र का विचार है कि "भारत की सामासिक संस्कृति के नाम पर भारत की मुख्यधारा है, उसी को उपेक्षणीय मान लिया गया है और यही हमारे आधुनिक जीवन की ट्रेजेडी है।' हम इस बारे में क्या सोचते हैं? अभी हाल में अमर्त्य सेन का 'द आर्युमैन्टेड इंडियन' पढ़ रहा था, जिसमें लेखक ने अपने नाना आचार्य क्षितिमोहन सेन का हवाला टाँकते हुए अपने सेक्युलरिस्ट पीठ स्वयं को लोकायतिक

संप्रदाय से जोड़ते हुए कुछ इस अंदाज में थपथपाई है जैसे वही मुख्यधारा या मुख्यधारा के समकक्ष हो। आज का युवा हिंदी लेखक इस बारे में क्या सोचता है?कुछ सोचता भी है कि नहीं? आधुनिक सभ्यता का संकट विश्वव्यापी है, किंतु यह संकट जिन्होंने उत्पन्न किया है, वे अपनी परंपरा और अपने इतिहास के बारे में हमारी अपेक्षा निश्चय ही अधिक आलोचात्मक जागरुकता के धनी हैं। अतः वे अपने वर्तमान और भविष्य की भी चिंता इनसे कहीं ज्यादा जिम्मेदार ढंग से करने में सक्षम दीखते हैं। इस मामले में हमारी वस्तुस्थिति क्या है, इसका बोध ही कम-से-कम हिंदी के युवा लेखक और आलोचक जगा सकें तो अच्छा हो। अंत में मैंभारत की स्वाधीनता की देहरी पर ही 'आलोचक राष्ट्र के निर्माण' का सपना देखने-दिखाने वाले हिंदी के अप्रतिम कवि अज्ञेय की तबसे चालीस बरस बाद की गई निम्नलिखित टिप्पणी उद्धृत करते हुए इस लेख का समापन करना चाहूँगा। वह टिप्पणी यों है :

"पश्चिम को अपने प्रबल अहं के बावजूद ऐसा विश्वास नहीं है कि उनका चिंतन, उनका दर्शन वगैरह सब पूर्व की अपेक्षा अच्छा है। उनमें जिज्ञासा है, आगे के रास्ते की चिंता है, क्लेश है। उनका साहित्य इस दृष्टि से खरा है। हमारे साहित्य में हमें न तो अपनी अनास्था दीखती है, न अपनी आस्था दीखती है, न अपनी चिंता दीखती है। हमारी क्या चिंता होनी चाहिए, इसकी भी चिंता नहीं है।"

उक्त टिप्पणी से हम सहमत हों, चाहे असहमत, इसका महत्त्व नहीं है। प्रश्न जो उठता है, वह यह है कि सन् 1945 में 'आलोचक राष्ट्र के निर्माण' के संकल्प के साथ जिस लेखक ने अपनी रचना-यात्रा आरंभ की थी, वह लेखक यात्रा के दूसरे छोर पर पहुँचकर उक्त टिप्पणी करने को क्यों प्रेरित हुआ? जाहिर है कि उक्त टिप्पणी ठेठ आज के साहित्यिक-सांस्कृतिक परिदृश्य से ही ताल्लुक रखती है।

## डॉ. कुमार विमल : अमरत्व का वरण!

### पांडेय शशिभूषण 'शीतांशु'\*

वेद में एक पंक्ति आती है "देवा रूपाणि चक्रे वयं नामानि कियसि ।" सो इस पंक्ति के अनुरूप कुमार विमल के नाम से ही मैं पहले परिचित हुआ, प्रत्यक्षतः उनके रूप से बाद में। आज फिर कुमार विमल का नाम ही हमारे पास रह गया है। अपने अभिधेयार्थ और लक्ष्यार्थदोनों में! और रूप विधाता या निर्माता देव के पास पहुँच गया है।

जहाँ तक मैंने उन्हें जाना, वे अपने छात्र-जीवन से ही विद्या-व्यसनी थे। उनके लिए आचार्य नलिन विलोचन शर्मा द्वारा प्रयुक्त एक विशेषण पद का प्रयोग करूँ तो वह युवावस्था में ही 'विद्या-वृद्ध' हो गए थे। हाँ, जब कभी मैं कुमार विमल से उनकी और अपनी वृद्धता की बात दूरभाष पर करता था, तब वह प्रायः यह कहने लगते थे कि आप वृद्धता की बात क्यों करते हैं? हम लोग वृद्ध नहीं, 'वरिष्ठ नागरिक' हैं। यदि इस दृष्टि से सोचूँ, तो वह अपनी युवावस्था में ही वैदुष्यपूर्ण अकादमिक क्षेत्र के 'वरिष्ठ नागरिक' हो चुके थे। उन्होंने 2008 में अपने श्रेष्ठ आलोचन-कर्म को चुनकर उसका संकलन 'चिंतन, मनन और विवेचन' प्रकाशित किया, तो मुझे उसे डाक से भेजा और उसके अंदर पहले पृष्ठ पर अपने हाथ से लिखा "अधीती और विद्या-विशिष्ट प्रो. पांडेय शशिभूषण 'शीतांशु' के योग्य।" फिर फोन करके मुझसे पूछा कि वह पुस्तक मुझे मिली या नहीं। मैंने उन पर कुछ ही दिनों बाद एक आलेख लिखा और उन्हें भेज दिया। फिर उनका फोन आया। वह मेरे उस आलेख को पढ़कर बहुत प्रसन्न थे। इसी वर्ष भारत सरकार के स्व. इंदिरा जी के मंत्रिमंडल के पूर्व शिक्षा-मंत्री प्रो. डी. पी. यादव ने मुझे दिल्ली में बताया कि पिछली यात्रा में जब वे पटना गए थे तब वे कुमार विमल से मिलने गए थे और विमल जी ने उनसे मेरी चर्चा की थी। वे मेरा सौहार्द-स्मरण कर रहे थे।

\* पांडेय शशिभूषण शीतांशु, प्रसिद्ध सैद्धांतिक एवं सर्जनात्मक आलोचक तथा भाषाविज्ञानी, 'साईकृपा', 58 लाल एवेन्यू, डाकघर-रेयॉन एंड सिल्क मिल अमृतसर-143005 (पंजाब)।

इसी 28 नवम्बर को दोपहर की डाक से 'पूर्वग्रह' (भोपाल) का अंक आया था। इसमें अज्ञेय जी पर मेरा आलेख छपा था, जो उनकी 'असाध्य वीणा' की साभिप्रायता पर था। इसी अंक में उनका आलेख भी प्रकाशित हुआ, जो अज्ञेय की काल-चेतना पर था। मैंने उनके लेख को पढ़ने के तत्काल बाद उनसे बात करने के लिए उनके मोबाइल पर संपर्क किया और पूछा "क्या डॉ. कुमार विमल बोल रहे हैं?" उत्तर आया "आप कौन बोल रहे हैं?" मैं थोड़ा अचम्भित हुआ। यह उनकी आवाज नहीं थी, फिर मैं बोला, "मैं डॉ. शीतांशु, अमृतसर से बोल रहा हूँ।" तब उन्होंने कहा कि डॉ. साहिब (डॉ. कुमार विमल) अब नहीं रहे। हृदयगति रुकने से उनका निधन हो गया है। मैं उनका बड़ा दामाद बोल रहा हूँ। मैं स्तब्ध रह गया! पूछा "यह अघटनीय कब घटा?" उन्होंने कहा "छब्बीस की रात में।" मैंने अपनी शोक-संवेदना व्यक्त की और मोबाइल बंद कर उनके चले जाने से हिन्दी आलोचना को हुई अपूरणीय क्षति और डॉ. कुमार विमल के आकस्मिक निधन के बारे में सोचने लगा "निर्माह काल के काले पट पर/कुछ अस्फुट रेखा/सब लिखी पड़ी रह जाती/ सुख-दुःखमय जीवन रेखा।"

कुमार विमल का व्यक्तित्व बहुत ही सौम्य और आकर्षक था। मैंने पहली बार उन्हें अपने गुरुवर आचार्य देवेन्द्र नाथ शर्मा के पटना के आवास पर देखा था। 1965 में बिहार लोकसेवा आयोग से भागलपुर विश्वविद्यालय सेवा में हिंदी के स्थायी प्राध्यापक पद पर मेरी नियुक्ति हुई थी। गुरुवर शर्मा जी चयन-समिति में एक विशेषज्ञ थे। पटना से लौटने के पहले मैं उस संध्या उनके आवास पर उनके दर्शनार्थ और उनका आशीः लेने पहुँचा था। वह अपने ड्राईंग रूम में किसी से बातचीत कर रहे थे। मुझे माता जी (श्रीमती शर्मा) ने बताया था कि वह डॉ. कुमार विमल से बात कर रहे थे और वह उन्हें मेरे आने की सूचना देने चली गई थीं। मैं स्वयं उनसे मिलने के लिए माता जी के पीछे-पीछे गया था। पर मेरे आने की सूचना मिलते ही शर्मा जी अपने ड्राईंग रूम से स्वयं बाहर आ गए थे। उस समय मैंने अंदर बैठे विमल जी को देखा था। बड़ी-बड़ी आँखें, घुँघराले बाल, तीखे नैन-नकश, सौम्य, आकर्षक व्यक्तित्व और अपने द्वारा उनके देखे हुए चित्रों के आधार पर सहज ही मान लिया था कि ये ही डॉ. कुमार विमल हैं।

यह भी क्या संयोग था कि जुलाई, 1964 में भागलपुर विश्वविद्यालय में मेरी नियुक्ति उसी वर्ष विश्वविद्यालय की अंगीभूत इकाई बने आर.डी.एंड डी. जे. कॉलेज, मुंगेर के लिए हुई थी। कुलपति रामधारी सिंह दिनकर ने तदर्थ नियुक्ति के लिए मेरा चयन किया था और मुझे बुलाकर कहा था "यही आपके प्राचार्य हैं, कपिल जी, इन्हीं के कॉलेज में आपको पदभार ग्रहण करना है।" बाद में जिस दिन मैं अपना कार्यभार ग्रहण करने मुंगेर पहुँचा था और प्राचार्य से मिलने गया था, तो प्राचार्य ने बधाई देकर मुझसे पहला प्रश्न यही किया था कि आप जिस पद पर यहाँ आए हैं, उस पर आपसे पूर्व कभी कुमार विमल रहे थे। वे हमारे छात्र भी रह चुके थे। उसके बाद शैलेंद्र अग्रवाल आए थे। पर वे दोनों यहाँ रुके नहीं। कॉलेज छोड़ कर चले गए। आप भी

अवसर मिलते ही हमें छोड़कर चले तो नहीं जाएँगे? तब मैंने उन्हें कहा था कि मैं कम-से-कम पाँच वर्ष आपके यहाँ अवश्य रहूँगा। मैं आपको यह विश्वास दिलाता हूँ। उस दिन पहली बार कुमार विमल के नाम से मेरा नाता उसी पद पर कार्यभार ग्रहण करने के कारण बना था। उनकी एक पुस्तक 'मूल्य और मीमांसा' पहले ही देखी-पढ़ी थी। फिर कॉलेज में पढ़ाने के दिनों में मैंने उनकी 'महादेवी वर्मा : एक मूल्यांकन' पुस्तक पढ़ी और उससे बहुत प्रभावित भी हुआ। मैं उनसे हाल तक की बातचीत में यह कहा करता था कि "महादेवी पर अब तक लिखी आलोचनात्मक पुस्तकों में आपकी पुस्तक सर्वश्रेष्ठ है।" बाद में उन्होंने महादेवी पर एक और पुस्तक लिखी। मैं इस नई सदी में भी उनसे आग्रह करता रहा कि आप उसकी एक प्रति मुझे भेज दीजिए। मैं उस सन्दर्भ में आप पर अपने ढंग से कुछ लिखना चाहता हूँ। पर उन्होंने मुझे कहा कि उसकी एक प्रति भी मेरे पास अब उपलब्ध नहीं है, अन्यथा आपको उसकी छाया-प्रति अवश्य भेज देता। पर आश्वस्त भी किया कि मैं सिन्हा लाईब्रेरी से पुस्तक मँगवाकर उसकी एक छाया-प्रति आपको अवश्य भेजूँगा। पर कालचक्र में यह संभव नहीं हो पाया।

क्या संयोग है कि डॉ. कुमार विमल से आमने-सामने मेरी कभी बात नहीं हो पाई। जब भी बात हुई तो पत्र के द्वारा या दूरभाष के द्वारा। संभवतः 1984 का वर्ष रहा होगा। मैं दिल्ली के पुस्तक मेले में वाणी प्रकाशन के स्टॉल पर विद्यानिवास मिश्र और कुमार विमल को एक साथ देखा था। मिश्र जी से तो कुछ देर तक मेरी बातें होती रहीं, पर इस दौरान विमल जी पुस्तक देखने में तन्मय हो चुके थे। और इधर मैं मिश्र जी से बातें कर दूसरे स्टॉल पर चला गया था। 1985 में मैंने डॉ. कुमार विमल को अपने निर्देशन के शोध-छात्र एवं सहयोगी डॉ. ओम अवस्थी के शोध-प्रबंध का परीक्षक बनवाया था। पर ठीक मौखिकी के संभावित दिनों में वह विदेश-यात्रा पर चले गए। अतः मौखिकी के बहाने भी मैं चाहकर उन्हें अमृतसर नहीं बुलवा पाया, जिसका खेद मुझे वर्षों तक बना रहा।

डॉ. कुमार विमल कवि और आलोचक दोनों थे। उनमें कारयित्री और भावयित्री दोनों प्रतिभा थीं। बहुत अच्छी कविताएँ लिखने के बावजूद वह जितना डिजर्व करते थे उतनी ख्याति कवि रूप में नहीं प्राप्त कर सके। उनकी आलोचना ने ही उन्हें अधिक यशस्वी बनाया। अपने आलोचन-कर्म में उन्होंने सैद्धांतिक और व्यावहारिक दोनों प्रकार की आलोचना लिखी। उन्हें अपनी परंपरा का, भारतीय काव्यशास्त्रीय चिंतन का जितना ज्ञान और मान था, उतना ही बोध और ध्यान पश्चिमी साहित्य-चिंतन के प्रति भी था।

मैंने उनसे एक बार कहा था कि "आपके आलोचन-कर्म की एक बड़ी विशेषता उसका अनुसंधानात्मक होना है। आप हिंदी के *अनुसंधानात्मक आलोचक* हैं, क्योंकि आप जिस विषय पर भी लिखते हैं उसकी पूरी व्यापकता में उसे समेटते हैं। उस विषय

में उसके पूर्व और समानांतर जितना कुछ लिखा जा चुका है, उन सब का जब आप तथ्यपूर्ण नोटिस लेते हैं तब आप 'मैक्रो क्रिटिक' (Macro Critic) हो जाते हैं। पर जब आप विवेच्य की गहनता में उसकी तलस्पर्शिता में जाकर उसका विश्लेषण-विवेचन करते हैं तब आप 'माइक्रो क्रिटिक' (Micro Critic) हो जाते हैं। विषय चाहे जो भी हो, आप नए-नए अनुषंग खोजकर उस पर विचार करते हैं। आपकी आलोचना की यह मौलिकता और सार्थकता है। व्यापकता और तलस्पर्शिता ये दो ऐसे तत्त्व हैं, जो आपकी आलोचना को अनुसंधानात्मक बना देते हैं। शुक्ल जी की तरह आप सर्वथा नए-नए बीज-वाक्य उपस्थापित करते चलते हैं।" विमल जी ने कहा था "आप इसे लिख डालिए।" पर मैं उनके जीते-जी इसे लिख तो नहीं सका, हाँ, डॉ. सपना शर्मा के द्वारा अपने लिए गए साक्षात्कार में इसका उल्लेख अवश्य किया। पर यह कैसा कुयोग रहा कि 'आलोचना के आर-पार' नामक वह पुस्तक वह देख नहीं पाए। कुमार विमल का कोई आलेख ऐसा नहीं है जिसमें पाद-टिप्पणी नहीं लगी हो। वह संदर्भ-ग्रंथों की पूरी सूचना दिया करते थे। मैंने एक बार उन्हें कहा भी था कि मैंने तो अब अपने आलेखों में पाद-टिप्पणी या संदर्भ-सूचना देना बंद कर दिया है, क्योंकि हिंदी में सीधे पाद-टिप्पणी को उठाकर लोग लेखक की कही गई बातों को अपनी बनाकर कहने लगते हैं। आजकल इसका खतरा शत-प्रति-शत हो गया है। पर कुमार विमल ने इसकी कभी चिंता नहीं की और वह अपने लेखन-धर्म के इस तकाजे को सदैव पूरा करते रहे।

मैं कुमार विमल को 'समीक्षकों का समीक्षक' मानता हूँ। पुस्तकें कैसे समीक्षित की जाती हैं, समीक्षकों को इसे कुमार विमल से सीखना चाहिए। इधर 'चिंतन-सृजन' के संपादक डॉ. बी.बी. कुमार ने उनसे मेरी पुस्तक 'उत्तर आधुनिकता : बहुआयामी संदर्भ' की समीक्षा लिखने का आग्रह किया था। उन्होंने यह दायित्व स्वीकार कर लिया था, पर दुर्योगवश वह समीक्षा पूरी नहीं हो पाई।

साहित्य में जब-जब पश्चिमी आंदोलन उभरा, तो उन्होंने न केवल उसका नोटिया लिया, बल्कि गहनता में जाकर उसका स्वरूपगत, अभिलाक्षणिक निरूपण तक किया, साथ ही उसकी मीमांसा भी की। चाहे आधुनिकता या अत्याधुनिकता के वादों का संदर्भ हो या दूसरे नव्य आंदोलन का, रचना-प्रक्रिया या सौंदर्य-शास्त्र की अभिग्रहणशीलता का संदर्भ हो, उन्होंने इन सब पर डूब कर लिखा। सौंदर्यशास्त्र के क्षेत्र में 'सौंदर्यशास्त्र के तत्त्व' नामक उनकी सैद्धांतिक पुस्तक और छायावाद के संदर्भ में उसका अनुप्रयोग उनका 'छायावाद का सौंदर्य-शास्त्रीय अध्ययन' हैं। ये दोनों उनकी 'मास्टर पीस' कृतियाँ हैं। दूरभाष के माध्यम से सौंदर्यशास्त्र के संदर्भ में बात करते हुए मैंने 2009 में उन्हें कहा था कि आपका यह कार्य अत्यंत सुचिंतित, श्रम-साध्य और मानक कार्य है, जो इस विषय पर आपकी विश्लेषण-क्षमता का प्रादर्श उपस्थित करता है। पर आपने सौंदर्य-शास्त्र के जो घटक-तत्त्व माने हैं, उनमें कल्पना,

सौंदर्य, बिंब और प्रतीक को लिया है। पर मुझे लगता है कि कल्पना तो सारे कलागत सौंदर्य की जननी है और 'सौंदर्य' घटक-तत्त्वों द्वारा, उसकी संघटना द्वारा पड़ने वाला प्रभाव। मैं आपके इन सारे विवेचन पर बहुत मुग्ध रहा हूँ। पिछले कुछ वर्षों में यह अनुभव कर रहा हूँ कि 'बिंब' और 'प्रतीक' के साथ 'मिथक' और 'फंतासी' का विवेचन भी किया जाना चाहिए। यदि आगामी नए संस्करण में संयोग बन पाए और आप इसे जोड़ सकें तो बहुत उत्तम होगा। तब उन्होंने मुझे कहा था कि देखिए, अब लिखने और जोड़ने की कितनी संभावना सार्थक हो पाती है! यदि समय मिल पाया, तो अवश्य करूँगा। पिछले कुछ वर्षों से मैंने सौंदर्य-शास्त्र के नए-नए प्रकारों पर उनके दो-तीन आलेख पढ़े थे और इसके तत्काल बाद मैंने उनसे यह आग्रह किया था कि यदि आप सौंदर्य-शास्त्र के प्रकारों पर ऐसे कुछ आलेख और लिखकर एक स्वतंत्र पुस्तक दे सकें, तो हिन्दी के प्रति आपका यह महत्वपूर्ण अवदान होगा। मेरे इस पत्र को पढ़कर भी उन्होंने यही कहा था कि यदि और कुछ आलेख लिख सका, तो ऐसा अवश्य करना चाहूँगा।

कुमार विमल प्रत्यालोचक (Meta-Critic) भी थे। पर उनकी प्रत्यालोचना सौम्य और संयत थी, उसमें रामविलास शर्मा की प्रखरता नहीं थी। उनकी आलोचना और प्रत्यालोचना किसी भी पाठक के लिए पूरी तरह संप्रेषणीय थी, जो सामान्य-से-सामान्य और विद्वान-से-विद्वान पाठकों से भी उनके पूर्ण अधीनी व्यक्तित्व का लोहा मनवा लेती थी। पाठक को यह कहना ही पड़ता था कि इस आलोचक ने कितना पढ़ा है, कितना सोचा है और कितनी मौलिकता से लिखा है।

आज हिंदी आलोचना में मार्क्सवादी आलोचकों का राजतंत्र छाया हुआ है। वह साहित्य की केंद्रीय धारा में अपना प्रभुत्व बनाए हुए हैं। पर मैं विवेकपूर्ण रूप से यह कहना चाहूँगा कि संपूर्ण मार्क्सवादी शिविर में एक रामविलास शर्मा को छोड़कर कुमार विमल से बड़ा आलोचक कोई नहीं है। यह भी कहना चाहूँगा कि वह जितनी यशस्विता और लोकप्रियता के अधिकारी थे, इस शिविर ने उन्हें उतना यशस्वी और उतना लोकप्रिय नहीं होने दिया, न ही उन्हें इस शिविर ने पुरस्कारों और सम्मानों से नवाजने के योग्य ही समझा। वह रामस्वरूप चतुर्वेदी और परमानन्द श्रीवास्तव से काफी ऊँचे कद के आलोचक थे। कहते हैं, साहित्य की असली परख और पहचान काल-देवता के हाथों होती है। मुझे पूरा विश्वास है कि दशाब्दियों बाद शताब्दियों तक उनका साहित्य अमरता की अमरबेलि बनकर छाएगा और काल-देवता उनके आलोचकत्व को शिखर पर स्थापित करेंगे। उन्होंने अपने सर्वोत्तम लेखन को संकलित करते हुए उसके 'दो शब्द' में यह लिखा भी है कि "विभिन्न संवैधानिक और संविधिक पदों से जुड़ी हुई व्यस्तताओं के कारण मैं साहित्य-जगत के सम्मुख कोई विशद-विशाल त्रिपटक प्रस्तुत नहीं कर सका, तो एक त्रिपटक ही सही, जिसका पहला पुटक आपके सुपुर्द है। आशा है, यह पुटक काल-देवता को भी अच्छा लगेगा।

उनकी मान्यता थी कि "मतवादी आग्रहों से मुक्त और महानगरों से बाहर या दूर रहकर भी जनहितकारी, दीर्घजीवी तथा विवेकशील साहित्य लिखा जा सकता है। ऐसा मेरा विश्वास है।" अपने इस कथन में संकेत से उन्होंने मतवादी शिविर और महानगरों की साहित्यिक राजनीति के विषय में सब-कुछ कह दिया है। पर इन सबसे सुविदित रहते हुए भी उन्हें इन सबकी कोई वेदना नहीं थी। वे साधक साहित्यकार थे और साहित्य को किसी आत्मीयवत् आजीवन जीते रहे। कहते हैं, वे अपने अंतिम दिनों में अस्पताल जाने के समय तक लिखते रहे थे। पुस्तकों से उनके अति विशिष्ट प्रेम का प्रमाण उनका निजी पुस्तकालय है, जिसमें साठ हजार के लगभग उनकी पुस्तकें सुरक्षित हैं।

अपनी श्रेष्ठ संकलनात्मक पुस्तक में उन्होंने अपनी गहन गवेषणात्मक क्षमता का प्रभाव छोड़ा है। इसमें 'राम की शक्ति-पूजा', 'लोकायतन', 'कामायनी', 'कनुप्रिया' आदि कृतियों पर उनकी व्यावहारिक आलोचना भी है।

डॉ. कुमार विमल आचार्य नलिन विलोचन शर्मा के निकाय के योग्यतम आलोचक सिद्ध हुए। नलिन जी की तरह ही उन्होंने साहित्य के अद्यतन अनुशीलन को कलाओं से जोड़ा और उसे पूरी निष्ठा से विकसित किया। उन्होंने सौंदर्य-शास्त्र के मूल को भारतीय परंपरा में रेखांकित-उद्घाटित किया। उन्होंने अपने लेखन में एक ओर पाठात्मक और पाठकीय आलोचना का विवेचन किया, तो दूसरी ओर अस्तित्ववादी सौंदर्यशास्त्र और अभिग्रहणशील (Receptive) सौंदर्यशास्त्र का विवेचन कर सौंदर्यशास्त्र के चिंतन को और व्यापकता तथा गहनता प्रदान की।

देरिदा ने अपनी विसंरचना (Deconstruction) में युग्म पदों में पहले पद की महत्वपूर्णता की गरिमामय स्थिति को उलट दिया है। उस दृष्टिकोण से पुरुष और स्त्री और प्रकृति और संस्कृति में संस्कृति अधिक महत्वपूर्ण है। इसी तरह सर्जक और आलोचक में आलोचक अधिक महत्वपूर्ण है। देरिदा कहता है मैं इस प्रतीपता का तभी तक पक्षधर हूँ जब तक दोनों को समानता के धरातल पर मानना आरंभ न हो जाए। इस समानता के अनुरूप कुमार विमल किसी महान् सर्जक के समकक्ष ही स्थान रखने वाले आलोचक थे। जैसे प्रसाद और निराला के समकक्ष रामचन्द्र शुक्ल हैं, उसी तरह महत्वपूर्ण सर्जकों के समकक्ष डॉ. कुमार विमल को भी यह श्रेय प्राप्त होगा।

उनकी सैद्धांतिक और सर्जनात्मक दोनों प्रकार की आलोचना से न केवल आलोचना के क्षेत्र में आने वाले प्रशिक्षुओं, बल्कि वर्षों से आलोचना के क्षेत्र में संलग्न रहने वाले आलोचक भी बहुत-कुछ सीख सकते हैं और इनकी सरणि पर चलकर अपने आप को और भी ऋद्ध-समृद्ध कर सकते हैं। आज हिंदी साहित्य के ऐसे सपूत के अवसान और उनके अवदान को सोचते हुए मेरी आँखें भर-भर आती हैं। वह चले गए हैं, पर उनका आलोचनात्मक लेखन उन्हें अमर कर गया है—झरना/झरता पत्ता/हरी डाल से अटक गया।"



## कला

### शंकर पुणतांबेकर\*

कला, धर्म, विज्ञान ये प्रकृति के ही भिन्न-भिन्न रूप हैं और मनुष्य के चेतन विकास के द्योतक हैं। प्रकृति की विभिन्न छटाओं से मनुष्य चमत्कृत था और उसका तन ही नहीं मन-मस्तिष्क भी उससे पोषित था। कमल, मोर, उषा, चाँद, बादल, नदी, पहाड़, जंगल उसके आह्लाद के विषय थे और उस आह्लाद में वह नाच उठता, गुनगुनाने लगता अथवा उसमें खो जाता।

अवश्य ही प्रकृति की सुंदरता कला की जननी है। सुंदर मोर को नाचते देख मनुष्य भी नाचा। भौरा सुंदर नहीं था, पर उसकी गुनगुनाहट मधुर थी, सो उसे सुन मनुष्य भी गुनगुनाने लगा। प्रकृति की नाना छटाएँ, सो प्रतिक्रिया-स्वरूप मनुष्य की नाना कलाएँ।

किंतु कला केवल सुंदरता अथवा मधुरता की प्रतिक्रिया नहीं है। वह और भी कुछ है। जैसा कि कहा मनुष्य प्रकृति के आह्लाद में खो भी जाता है। यह खो जाना कला को सामान्य प्रतिक्रियाओं से बिलकुल अलग बना देता है, उसका मन-प्राण से संबंध जोड़ देता है। कहें कि उसे भव्य से दिव्य बना देता है।

यह भव्य से दिव्य क्या है? दर्शन या चिंतन की भाषा में कहें तो भव्य भौतिक है और दिव्य आध्यात्मिक। किंतु अनुभूति या कला की भाषा में मैं भव्य को सुंदर और दिव्य को कल्पना कहूँगा। कला केवल सुंदर या उसकी प्रतिक्रिया नहीं है वह कल्पना या उसकी प्रतिक्रिया भी है। इस तरह कला वह जो सुंदर भी कल्पना भी।

चंद्रमा कैसा प्यारा-प्यारा है। यह एक प्रतिक्रिया। चंद्रमा कैसा हँस रहा है। यह एक प्रतिक्रिया।

दूसरी प्रतिक्रिया में कल्पना है। हँसता तो मनुष्य है। इस तरह चंद्रमा मुख बन गयासुंदर मुख जो मात्र-कल्पना है। प्यारा-प्यारा चंद्रमा हमारे मन-मस्तिष्क में ऐसी सघनता से बिंबित नहीं होता जैसा हँसता चंद्रमा कहने से होता है।

2 माया देवी नगर, जलगाँव-2, मो. 09403159031

तो क्या कला में सब-कुछ सुंदर और मधुर होता है जिसे बिंबित करने को कल्पना काम करती है? हाँ, जहाँ तक कला के उद्गम का प्रश्न है उसमें मूलतः सुंदर और मधुर ही रहे हैं। एक बात और। उद्गम की भाँति कला का लक्ष्य भी सुंदर और मधुर होता है।

सुंदर सापेक्ष शब्द है, इस तथ्य को अपनी जगह ठीक मानते हुए भी हम कहेंगे कि जो मोहक-आकर्षक है सो है। जैसे जो मानवीय मूल्य है सो हैं। अब जो सुंदर है वही कला का विषय नहीं होता। सुंदर को उभारने के लिए उसमें असुंदर का समावेश होता है। यही नहीं सुंदर को अपने अस्तित्व के लिए असुंदर का मुकाबला करना पड़ता है। जैसे राम को रावण का। प्रकाश को अँधेरे का। वृक्ष को शिशिर का।

जब हम कहते हैं सुंदर सापेक्ष शब्द है तो सुंदर की व्याप्ति घट-बढ़ जाती है। वह केवल दृष्टि का विषय नहीं रह जाता, रुचि-स्थल-काल भी उसमें समाविष्ट हो जाते हैं। एक छोटे-से उदाहरण से इसे समझा जा सकता है। भगवान सुंदर है मंदिर के गर्भ-गृह घर के गर्भ गृह में नहीं, इसी तरह पत्नी सुंदर है घर के गर्भ-गृह में मंदिर के गर्भ-गृह में नहीं।

सुंदर प्रथमतः 'आँख' का विषय होमोहक-आकर्षक, पर अंततः सुंदर तभी सुंदर है जब वह 'दृष्टि' का विषय बनता है। आँख संस्कार होती ही है ऐसा नहीं, दृष्टि संस्कार का ही दूसरा नाम है।

संस्कार रुचि का परिष्कार करता है और रुचि के इस परिष्कार में कला का भी सहयोग होता है। कला इसीलिए जहाँ सुंदर का आविष्कार है वहाँ रुचि का परिष्कार भी है। तभी ऊपर कहा है कि कला का उद्गम जहाँ सुंदर है वहाँ उसका लक्ष्य भी सुंदर है। कला की यात्रा ही सुंदर से सुंदर की ओर है।

हाँ, ऊपर मैं सुंदर के साथ कल्पना की बात भी कर रहा था। प्रकृति के सुंदर को देख उसमें खो जाने वाली बात और उसमें से कल्पना की बात। कल्पना ने प्रकृति के सुंदर को सजीव बनाया। पहले यह सजीव 'कौन हो तुम?' के रूप में गूढ़ था जिसमें से ईश्वर की उत्पत्ति हुई किंतु बाद में यह सजीव इस धरती का भी प्राणी बन गया। 'कौन हो तुम?' के गूढ़ में से ईश्वर की उत्पत्ति हुई हो, और वह धर्म का प्राणतत्व बन गया हो, तथापि यह कला का भी विषय था। भव्य में दिव्य।

ठीक है कि मनुष्य समाजशील प्राणी है, पर मनुष्य ही विश्व में एकमात्र प्राणी है जो कल्पनाशील है। रूढ़ भाषा में वह विचारशील है। कल्पनाशीलता में से ही मनुष्य विचारशील बना। कल्पना प्रथम चरण, आगे विकास के साथ विचार द्वितीय चरण। या कह सकते हैं कि कल्पना विचार की जननी है। 'कौन हो तुम?' प्रश्न का उत्तर 'ईश्वर' प्रथम कल्पना ही था और आगे वह विचार में रूढ़ हुआ।

पहाड़, नदी, जंगल, चंद्र, सूर्य, बादल, मोर, कोयल, हंस आदि से मनुष्य के मानस में नाना कल्पनाएँ उभरने लगीं। इंद्र, वरुण, वृहस्पति, बलि, गौतम, विश्वामित्र,



लक्ष्मी, सरस्वती, रति आदि की सृष्टि हुई। यहाँ मुझे कल्पना का क्रमगत इतिहास प्रस्तुत नहीं करना है और वह किया भी नहीं जा सकता। यहाँ मुझे केवल यह कहना है कि प्रकृति की चेतना और मनुष्य के मानस से सृष्टि को नया रंगरूप प्राप्त हुआ और इसे हम कला कह सकते हैं।

‘प्रकृति की चेतना’ शब्द का प्रयोग यहाँ मैंने जानबूझकर किया है। प्रकृति की तरल नदी में या तालाब में थिरकते हंस में ही चेतना नहीं है उसके जड़ पहाड़ में या जंगल में, स्थिर खड़े वृक्ष में भी चेतना है। फिर प्रकृति की यह चेतना मानव-प्रदत्त चेतना है। चाँदनी में परी मानव-प्रदत्त ही तो है।

हाँ, ‘चाँदनी में परी’ जब कला बनी तो यही परावर्तित होकर अँधेरे मानस में परी की चाँदनी बनी। और यही कला का धर्म है।

मैं रैगिस्तान में से चला जा रहा हूँ। आगे-पीछे, दाएँ-बाएँ कुछ नहीं है सिवा बालू के।

बड़ी दूभर, अत्यंत रुक्ष, नितांत शून्य ऐसी है यह यात्रा। हाँ, एक साथी है इस यात्रा में। मेरे ही संग-संग चल रहा है। दोनों परस्पर हँस-बोल लेते हैं। उतनी ही राहत।

पर राहत की बजाय यात्रा का कष्ट बढ़ जाता है जब साथी ऐसी-वैसी बातें करने लगता है।

एक नमूना पेश है। यही है जिंदगी! चलते जाना-चलते जाना! रैगिस्तान में चल रहे हैं हम। तथापि हम जिंदगी को अपने ढंग से जी सकते हैं, जिंदगी का कोई लक्ष्य निर्धारित कर जी सकते हैं। हम अपने सुख-दुख की चिंता न कर ऐसे जी सकते हैं कि जिसकी अपनी महक हो जैसी चंदन की होती है, जिसमें विवेकशीलता और न्यायबुद्धि हो जैसी हंस की होती है और हमारा हृदय हो शांत सरोवर-सा जिसमें झॉककर हम अपने को नित्य परखते रहें कि मैं कहीं दैत्य तो नहीं हूँ। लेकिन होता यह है कि जो संपन्न होते हैं धनसंपन्न अथवा सत्तासंपन्न वे इन बातों की चिंता नहीं करते, अपने ही अहं में जीते हैं।

मैं साथी की बात सुनते-सुनते सोचता हूँ उससे कहूँ, बस चुप करो। इसलिए कहना चाहता हूँ कि उसकी एक-एक बात के साथ बालू पर पड़ते मेरे कदम और भारी हो जाते हैं, सिर पर तपता सूरज और तेज।

वास्तव में वह जो कुछ सुना रहा था उसमें ऐसा-वैसा कुछ नहीं था। जिंदगी का सत्य का भरा हुआ था उसमें। इस सत्य से वह मुझे बता रहा था कि मैं रैगिस्तान को लेकर न रोऊँ। अपने लिए तो सभी जीते हैं, पर मैं सृष्टि के उस रूप को भी देखूँ जिसे अपनाकर मैं केवल मैं न रह जाऊँ। वह मुझे जीवन के अर्थ से अवगत करा रहा था।

मेरी हाँ-हूँ न पा साथी ही चुप हो जाता है। मैं राहत की साँस लेता हूँ।

इसके विपरीत कुछ देर बाद साथी कुछ और ही सुनाता है।

एक गुरु था। श्वेत वस्त्रधारी। कुटिया में रहता था। कुटिया छोटी थी, हाँ उसका आँगन बड़ा था जिसके पेड़ के नीचे वह बालकों को पढ़ाता था। गुरु कहीं आता-जाता नहीं था, अपनी कुटिया भली अपना काम भला। हाँ, तीज-त्योहार पर वह मंदिर अवश्य जाता।

एक बार वह मंदिर को चला तो क्या देखता है कुटिया से मंदिर तक पूरा रास्ता गुलाब की पंखड़ियों से भरा हुआ है। ये पंखड़ियाँ आकाश की परी ने बिछायी थीं।

तीज-त्योहार को राजा भी मंदिर जाता और गुरु की भाँति पैदल ही जाता। राजा ने जब गुरु के रास्ते के बारे में सुना तो वह जलभुन गया। अगली बार जब वह मंदिर को चला तो दरबारियों को आदेश दिया, मेरा रास्ता फूलों से बिछा दो।

कैसे बिछा दें! दरबारियों ने कहा, सारे फूल परी ने पहले ही गुरु के रास्ते पर बिछाने के लिए तोड़ लिए हैं।

सुनकर राजा क्रुद्ध हो गया। बोला, परी को मेरे मुकाबले एक राजा के मुकाबले गुरु प्यारा हो गया! उसे मेरे सामने पेश करो और कहो कि वह गुरु का नहीं, मेरा रास्ता फूलों से भरे। लेकिन दरबारी परी को राजा के सामने हाजिर नहीं कर सके। वह उन्हें कहीं मिली ही नहीं। दरबारियों ने गुरु से उसका पता पूछा। गुरु ने कहा, मैं नहीं जानता वह कहाँ रहती है। यह भी नहीं जानता कि वह मेरा रास्ता फूलों से क्यों भर देती है।

आखिर एक बूढ़े ने परी का पता दिया। वह एक चंदन के वृक्ष में रहती है जो पूर्व दिशा के सरोवर के किनारे पर है। बूढ़े ने यह भी बताया कि परी राजा का रास्ता फूलों से नहीं भरेगी, क्योंकि महल के आँगन में बबूल के वृक्ष हैं। वह गुरु को इसलिए चाहती है कि गुरु अपने लिए कुछ नहीं चाहता, ज्ञान बच्चों को लुटा देता और अपने आँगन में जो आम का पेड़ है उसके सारे फल गरीबों में बाँट देता है। परी कहती है राजा तो लोगों को बबूल के काँटे बाँटता है सो वह गुरु-जैसा प्यारा-प्यारा कभी नहीं बन सकता।

राजा दरबारियों से खबर पाकर चंदन के वृक्ष के पास पहुँचा। परी ने चंदन में से ही राजा से कहा, चंदन बनो गुरु की भाँति। मैं तुम्हारा रास्ता भी फूलों से भर दूँगी।

राजा को यह सुन क्रोध आया और उसने चंदन वृक्ष कटवा फेंका। लेकिन अगले पर्व पर भी राजा ने देखा गुरु का रास्ता फूलों से बिछ गया है। परी चंदन से निकलकर सरोवर के हंस में जा बैठी थी। राजा ने हंस के पास जाकर कहा, तुम नहीं मानोगी? मेरा रास्ता फूलों से नहीं भरोगी?

हंस में से परी ने कहा, भरूँगी। हंस की तरह विवेकशील बनो, दूध-का-दूध और पानी-का-पानी करने वाले हंस की तरह जैसे कि गुरु हैं। राजा को फिर गुस्सा आया और हंस को मरवा दिया।

इस बार परी सरोवर में ही समा गई और गुरु का रास्ता फूलों से भरते परी बाज नहीं आ रही है यह देख राजा सरोवर पर पहुँचा। सरोवर में से परी ने कहा, मैं तुम्हारा रास्ता फूलों से भर सकती हूँ, तुम यदि एक बार, सिर्फ एक बार अपना चेहरा सरोवर में देख लो। सोने-चाँदी में अपना चेहरा देखते हो तो वह तुम्हें दैत्य से देव नजर आता है। सरोवर में देखोगे तो अपने को ठीक से पहचानोगे और महल के आँगन के बबूल के वृक्ष कटवा फेंकोगे।

स्पष्ट था, राजा अपनी प्रकृति के अनुरूप बराबर क्रुद्ध हुआ और उसने सरोवर को तोड़ देने का हुक्म जारी किया। और इसके बाद परी जानते हो कहाँ जा समायी? वह चाँद में, बादलों में जा बैठी जिन पर राजा का बस नहीं चला। और जा बैठी सरकंडे में जिसकी लेखनी बनती है। सरकंडे को राजा ने जितना मिटाया उतना ही वह बढ़ता गया।

साथी बोलता जा रहा था, बोलता जा रहा था और मैं उसमें डूबता चला गया। मैं भूल जाता हूँ कि मैं रेगिस्तान में चल रहा हूँ, पैर के नीचे बालू है और सिर पर सूरज। परी मुझे मोह लेती है। मुझ पर उस परी का जादू छा जाता है जो सर्वथा कल्पनालोक की है। साथी मुझे जब यथार्थ सुना रहा थाजिंदगी का सत्य वह मुझे नहीं भाया और मेरी यात्रा भारी हो गई। इसके विपरीत उसने मुझे सर्वथा कल्पना की बातें सुनाईसब-कुछ असत्य वे मुझे ऐसी भायीं कि मैं भूल गया कि भारी यात्रा कर रहा हूँ।

साथी की इस कथा में कला का मर्म निहित है। कथा कल्पित है, असत्य है। पर क्या वह कल्पित और असत्य में से जीवन का यथार्थ, जीवन का सत्य नहीं समेटे हुए है वही जो साथी ने सीधे-सीधे सुनाया था। परी कल्पित और असत्य हो जो कथा का मुख्य पात्र है पर गुरु और राजा तो यथार्थ और सत्य हैं। उनका चरित्र और आचरण। फिर परी भी कल्पना होते हुए कल्पना नहीं है, वह प्रतीक है मूल्य-दृष्टि का।

मूल्य-दृष्टि तटस्थ होकर केवल कला देती है। फिर वह कविता हो, चित्रकारी हो, शिल्प हो या संगीत। कभी मंदिर इन कलाओं का संगम था। दृश्य देखिए मेरी कन्या मीरा की कविता गा रही है, कृष्ण मूर्ति के सामने और इससे प्रभावित हो मेरा पड़ोसी मंदिर की भित्ति पर इस दृश्य का चित्र काढ़ता है उन श्रोताओं-सहित जो गीत से मंत्रमुग्ध हैं।

और क्या बताऊँ मैं। मैं जब भी मंदिर जाता हूँ, भित्ति पर मीरा के इस चित्र को देखकर मुझे प्रत्यक्ष में संगीत सुनाई देने लगता है। इसे देख-सुन मैं अपना दुःख-दर्द भूल जाता हूँ।

मैं समझता हूँ, धर्म का भी यही मर्म है।

हम कहते हैं कला कल्पना है, उसका रंग, रूप, शब्द, स्वर सभी कल्पना। कल्पना जिसे हम असत्य मानते हैं। और विकास के साथ यथार्थ और यथार्थ होते जा रहे हम कल्पना को बेमानी समझने लगे हैं, तभी तो कला से दूर-दूर होते जा रहे हैं। माना कि कल्पना असत्य है, पर वह बेमानी नहीं।

और कल्पना असत्य है तो किस कोटि की असत्य है इसका विचार यथार्थ और यथार्थ होते जा रहे मनुष्य ने कभी किया है? यह असत्य झूठ हो, किंतु यथार्थ का उलटा असत्य नहीं है। कला जब चाँदनी को परी कहती है तो वह चाँदनी को झुठलाती नहीं, उस दशा में भी नहीं जब वह सीधे-सीधे कहती है यह चाँदनी नहीं परी है। यह असत्य तो चाँदनी के सत्य को और महिमामय बना देता है।

मुख चंद्रमा है यह कितना आह्लाददायी असत्य है। और जो आह्लाददायी है, महिमामय है वह बेमानी कैसे हो सकता है! ऊपर दी गई परी-कथा बेमानी नहीं रह जाती, क्योंकि वह जिंदगी की रुक्षता को स्निग्धता से भर देती है। सीधा यथार्थ तो रुक्षता को और रुक्ष कर देता है।

मैं रेगिस्तान में से चला जा रहा हूँ। संग चल रहा मेरा साथी मुझसे कहता हैयही है जिंदगी! चलते जाना-चलते जाना। रेगिस्तान में चल रहे हैं हम। नहीं जानते हम कहाँ जा रहे हैं अथवा जहाँ भी जा रहे हैं वहाँ पहुँचेंगे भी या नहीं। पहुँचें-न-पहुँचें, हमें चलते जाना है। पैरों के नीचे बालू से जूझते और सिर के ऊपर सूरज को झेलते!

वह कहता ही जाता है, इस बालू पर क्या हमारा बस है! हमारा बस न बालू पर है, न सूरज पर जो हमको पूरी तरह जलाता है। कहीं विश्राम करें, ऐसा स्थल भी तो नहीं है। भाई, यही है जिंदगीचलते जाना-चलते जाना। जलते जाना-जलते जाना।

यह सत्य है, सूरज-जैसा सत्य। सूरज-जैसा जलता सत्य। और क्या यह सत्य जलते को और नहीं जलाता है? और फिर यह तटस्थ सत्य नहीं है।

यह तटस्थ सत्य इसलिए नहीं है कि कोई बालू पर चल रहा है, कोई हरियाली पर चल रहा है, कोई फूलों पर चल रहा है। ऊपर तपता सूरज भी नहीं है। किसान बालू पर चलता है महाजन तो नहीं।

ऐसे अतटस्थ सत्य से तटस्थ असत्य भला। साथी की परीकथा असत्य है। बालू पर चल रहे के लिए, हरियाली पर चल रहे के लिए, फूलों पर चल रहे के लिए। तात्पर्य सभी के लिए।

इंद्र, रति, बृहस्पति, कामदेव, अहल्या ये सभी तटस्थ असत्य हैं, सभी के लिए समान रूप से प्रिय-अप्रिय! समान रूप से जीवन का श्वेत-अश्वेत दिखाने वाले। स्वर्ग-नरक का संकेत देने वाले जो अपने आप में कल्पना होते हुए अयथार्थ नहीं हैंतटस्थ यथार्थ हैं।

ऊपर की परी कथा कला की भूमिका का भी संकेत कर देती है। हम यदि कथा में परी के स्थान पर कला शब्द को रख दें तो कला का लक्ष्य आप हमारे सामने आ जाएगा।

आज के संदर्भ में कला का विचार करें तो कह सकते हैं कि उसका विज्ञान से संघर्ष नहीं है। विज्ञान कला की उपेक्षा करता हो, कला विज्ञान की उपेक्षा नहीं करती, उलटे विज्ञान के अतटस्थ सत्य से दुनिया में दिनोदिन तीव्र से तीव्रतर होती जा रही विषमता से वह चिंतित है और इससे कैसे उबरा जाए इसके प्रति जागरूक। यही कला की भूमिका है। कला की भूमिका धर्म अथवा राजनीति की भाँति किसी प्रतिबद्धता से जकड़ी नहीं होती, उसकी भूमिका तो संवेदन की है, चेतना की। तटस्थ संवेदन, तटस्थ चेतना की जो या तो प्रकृति की होती है या संत-चिंतकों की।

कला की यदि विज्ञान से लड़ाई है तो वह उसके अतटस्थ सत्य से। उसके सत्य मानव जात के लिए नहीं होते, चुनिंदा मानवों के लिए होते हैं। कैसर का इलाज गरीब तक नहीं पहुँचा है, विमान अमीरों की चीज है, कंप्यूटर जैसे उपकरण चोर-डकैतों को अधिक लाभ पहुँचा रहे हैं। विकास की इस पीड़ा से आज की कला पीड़ित है। धर्म, कला, विज्ञानतीनों प्रकृति की ही देन हैं। पर आज स्थिति यह है कि धर्म गरीबों का, विज्ञान अमीरों का बना हुआ है और कला मात्र-बुद्धिजीवियों की।

## वेदान्त विमर्श

डॉ. एस.पी. दुबे\*

“वेदान्त” शब्द का प्रयोग जब हम करते हैं तो वाच्यार्थ से ऐसा ध्वनित होता है कि वेद के अंत के बारे में कुछ कहा जा रहा है। वस्तुतः परम्परया वेद तो नित्य तथा शाश्वत माने गये हैं, अतः उनके अंत होने का प्रश्न ही नहीं उठता। ‘वेद’ शब्द का अर्थ ज्ञान होता है। वेदों में ज्ञान-राशि का समावेश है। इस दृष्टि से भी वेदों का अंत नहीं हो सकता। ज्ञान का अंत नहींयह अनन्त है। प्रायः ‘वेदान्त’ शब्द का अर्थ किया जाता है उपनिषद्, जिन्हें वैदिक वाग्मय के अंतिम अध्यायों के रूप में सामान्यतया पाया जाता है। परन्तु यहाँ भी एक भ्रान्ति है। सभी उपनिषद् वेदों के अंतिम अध्याय नहीं हैं। चारो वेदों के चारो भागोंसंहिता, ब्राह्मण, आरण्यक तथा उपनिषद्में ये उपलब्ध हैं। उदाहरणार्थ *ईशावास्य उपनिषद् यजुर्वेद संहिता* का भाग है। *मुण्डक उपनिषद् अथर्ववेद* की संहिता के अंतर्गत आता है। इसी प्रकार *छान्दोग्य* तथा *केन उपनिषद् सामवेद* के *तलवकार ब्राह्मण* के अंश हैं। *बृहदारण्यक उपनिषद्*, जैसा कि इसके नाम से ही स्पष्ट है, शुक्ल *यजुर्वेद* के आरण्यक भाग के अंतर्गत आता है। अन्य बहुत से उपनिषद् वेदों के अंतिम अध्यायों में पाये जाते हैं। अतः वेदान्त का अर्थ उपनिषद् माना जाता है। उपनिषदों की संख्या 100 से भी अधिक है। ये पद्य, गद्य तथा मिश्रित रूप में भी मिलते हैं। आदि शंकराचार्य के भाष्य 11 उपनिषदों पर मिलते हैं और इन्हें प्रमुख उपनिषद् माना जाता है, जो निम्नलिखित हैं

- |                         |                        |                         |                    |
|-------------------------|------------------------|-------------------------|--------------------|
| 1. <i>ईशावास्य</i> ,    | 2. <i>कठ</i> ,         | 3. <i>केन</i> ,         | 4. <i>प्रश्न</i> , |
| 5. <i>मुण्डक</i> ,      | 6. <i>माण्डूक्य</i> ,  | 7. <i>तैत्तिरीय</i> ,   | 8. <i>ऐतरेय</i> ,  |
| 9. <i>श्वेताश्वतर</i> , | 10. <i>छान्दोग्य</i> , | 11. <i>बृहदारण्यक</i> । |                    |

इनमें से बृहदारण्यक तथा तैत्तिरीय उपनिषदों पर आचार्य के भाष्यों पर उनके शिष्य सुरेश्वराचार्य ने वार्तिक लिखा है। इस कारण ये दो उपनिषद् बहुत ही महत्त्वपूर्ण माने जाते हैं।

\*डॉ. श्रीप्रकाश दुबे, पूर्व-आचार्य एवं विभागाध्यक्ष, दर्शन विभाग, जबलपुर विश्वविद्यालय एवं अध्यक्ष, अखिल भारतीय दर्शन परिषद्।

उपनिषदों पर आधारित दर्शन को वेदान्त दर्शन कहा जाता है। यह वैदिक दर्शनों के षट्दर्शनों में सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण माना गया है। वैदिक दर्शनों में अन्य दार्शनिक सम्प्रदायों के नाम हैंसांख्य, योग, न्याय, वैशेषिक तथा पूर्व-मीमांसा। वेदान्त को उत्तर-मीमांसा भी कहा जाता है। पाराशर ऋषि के पुत्र बादरायण व्यास ने उपनिषदों को दृष्टि में रखकर वेदान्त-सूत्र की रचना की जिसमें 555 सूत्रों के माध्यम से वेदान्त-दर्शन का संक्षिप्त परिचय मिलता है। भारतीय परंपरा में यह एक ऐसा युग था जब लगभग सभी सम्प्रदायों ने अपने विपुल साहित्य को सूत्रों के रूप में प्रस्तुत किया। वेदान्त-सूत्र को ब्रह्मसूत्र तथा शारीरकसूत्र भी कहते हैं। ब्रह्मसूत्र इसलिए कहा जाता है कि वेदान्त का प्रमुख प्रतिपाद्य ब्रह्म ही है और यह ग्रन्थ ब्रह्म की जिज्ञासा से प्रारम्भ होता है अथातो ब्रह्म जिज्ञासा। वेदान्त सूत्रों पर सर्वाधिक प्राचीन तथा उपलब्ध भाष्य आदि शंकराचार्य का ही है। स्वयं बादरायण अपने सूत्रों में अपने पूर्ववर्ती वेदान्त के सात आचार्यों का उल्लेख करते हैं, यथा, आत्रेय, आश्वरथ्य, औडुलोमि, कार्ष्णाजिनि, काशकृत्स्न, जैमिनि तथा बादरि। टंक, भर्तृप्रपंच, भर्तृमित्र, भर्तृहरि, ब्रह्मदत्त तथा बोधायन ब्रह्म-सूत्र के प्राचीन भाष्यकार रहे हैं परन्तु इनके भाष्य उपलब्ध नहीं हैं। वेदान्तसूत्र के प्रमुख भाष्यकार शंकर, रामानुज, मध्व, निम्बार्क तथा वल्लभाचार्य हैं। रामानन्द, श्रीकण्ठ, विज्ञानभिक्षु तथा बलदेव के भी इस पर भाष्य उपलब्ध हैं। डॉ. सर्वेपल्ली राधाकृष्णन् ने अंग्रेजी में वेदान्त-सूत्र पर भाष्य लिखा जो वर्ष 1960 में प्रकाशित हुआ। डॉ. भद्रेश दास ने स्वामिनारायण अक्षरधाम की परंपरा में वेदान्त-सूत्र पर संस्कृत में एक भाष्य लिखा है जिसे इस संस्थान ने 2009 में प्रकाशित किया है। 21वीं शताब्दी का वेदान्त-सूत्र पर यह प्रथम भाष्य है।

उपनिषद् तथा वेदान्त-सूत्र वेदान्त दर्शन के प्रस्थान माने जाते हैं। उपनिषदों को श्रुतिप्रस्थान या मूल-प्रस्थान कहा जाता है तथा वेदान्त-सूत्र को दर्शनप्रस्थान या न्यायप्रस्थान माना गया है। वेदान्त दर्शन का एक तृतीय प्रस्थान भी है जिसे हम स्मृति-प्रस्थान कहते हैं। यह ग्रन्थ है श्रीमद्भगवद्गीता जो महाभारत महाकाव्य के भीष्मपर्व का एक अंश है। इस प्रकार वेदान्त दर्शन की यह प्रस्थानत्रयी है। प्रायः दार्शनिक सम्प्रदायों के प्रवर्तक आचार्य इन तीनों प्रस्थानों पर भाष्य लिखकर आचार्यत्व प्राप्त करते हैं। कुछ सम्प्रदाय कुछ और ग्रन्थों को भी प्रस्थान मानते हैं। श्रीमद्भागवत को भी एक प्रस्थान माना गया है जिसके कारण वेदान्त का एक सम्प्रदाय (शुद्धाद्वैत) प्रस्थान-चतुष्टय स्वीकार करता है।

वेदान्त दर्शन में अद्वैत वेदान्त सर्वाधिक प्रसिद्ध दार्शनिक सम्प्रदाय है। भारत के बाहर इसी दर्शन को हमारे देश का प्रायः प्रतिनिधि चिन्तन माना जाता है। अद्वैत वेदान्त आत्मा एवं परमात्मा अथवा जीव एवं ब्रह्म में भेद को आत्यंतिक नहीं मानता। कहा गया है जीवो ब्रह्मैव नापरः। छान्दोग्य उपनिषद् का तत्त्वमसि महावाक्य इसका परिचायक है, जिसे आरुणि उद्दालक ने अपने पुत्र श्वेतकेतु को स्वर्ण-आभूषण तथा

मिट्टी के बर्तनों जैसे उदाहरण देकर समझाया था। छान्दोग्य उपनिषद् में इस वाक्य की नौ बार आवृत्ति हुई है। इसलिए महावाक्यों में इसे सर्वाधिक महत्त्व दिया जाता है। यों तो उपनिषदों में महावाक्य अनेक हैं परन्तु चार महावाक्य अधिक महत्त्व प्राप्त किये हैं। उनमें से प्रत्येक महावाक्य एक वेद का प्रतिनिधित्व करता है जिसे निम्नानुसार प्रदर्शित किया गया है

1. तत्त्वमसि (छान्दोग्य उपनिषद्) सामवेद
2. अहं ब्रह्मास्मि (बृहदारण्यक उपनिषद्) यजुर्वेद
3. प्रज्ञानं ब्रह्म (ऐतरेय उपनिषद्) ऋग्वेद
4. अयमात्मा ब्रह्म (माण्डूक्य उपनिषद्) अथर्ववेद

शंकराचार्य भाग-त्याग अथवा जहत्-अजहत् लक्षणा के माध्यम से जीव तथा ब्रह्म में अभेद या अद्वैत सम्बन्ध स्थापित करते हैं। दोनों में ही चेतना उपस्थित है और यही चेतना अद्वैत का आधार है। यद्यपि परम चेतना या ब्रह्म को शब्दों अथवा भाषा के माध्यम से स्पष्ट नहीं किया जा सकता है। इसलिए इसे अनिर्वचनीय भी कहते हैं। इसका निषेधात्मक कथन बृहदारण्यक उपनिषद् के नेति-नेति में मिलता है। परन्तु परम तत्त्व का भावात्मक वर्णन करने का भी प्रयास किया गया है, यथासत्यं ज्ञानं अनन्तं ब्रह्म या प्रज्ञानं ब्रह्म। इसे ही सच्चिदानन्द कहा जाता है। परन्तु सच्चिदानन्द भी प्रकारान्तर से निषेधात्मक कथन ही है क्योंकि ब्रह्म असत् नहीं है इसलिए उसे सत् होना चाहिए, वह अचित् नहीं है इसलिए उसे चित् होना चाहिए तथा वह दुःखपूर्ण नहीं है इसलिए उसका स्वरूप आनन्दमय होना चाहिए। सच्चिदानन्द ब्रह्म का स्वरूप लक्षण है। ब्रह्म का एक तटस्थ लक्षण भी है जिसे तैत्तिरीय उपनिषद् में बताया गया है “यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते...”। ब्रह्म इस जगत् का सृष्टिकर्ता है, इसका पालनकर्ता है तथा इसका संहार भी करता है। इसे ही संक्षेप में ‘तज्जलान्’ कहा गया है। यह इसका तटस्थ लक्षण है। वस्तुतः परब्रह्म जब ऐसे कार्यों को सम्पादित करता है तो वह ईश्वर कहलाता है और माया के सहयोग से वह सृष्टि इत्यादि करता है। यह माया भी अनिर्वचनीय कहलाती है क्योंकि इसे न तो सत् कहा जा सकता है और न ही असत्। वेदान्त में सत् की परिभाषा है जो तीनों कालों में बाधित न होत्रिकालाबाधित्वं सत्। जीव को ब्रह्म का ज्ञान हो जाने पर इस माया का भी उसके लिए नाश हो जाता है। जो जगत् दिखाई पड़ रहा है वह भी ब्रह्मदर्शी के लिए मिथ्या हो जाता है। इसीलिए कहा गया है ब्रह्म सत्यं जगत् मिथ्या।

उपनिषदों की धारणा है कि तत्त्वज्ञान की परिणति अनुभव में होती है। इसी अर्थ में ‘वेदान्त’ शब्द की भी सार्थकता है। वेद या ज्ञान का पर्यवसान अनुभूति में होता है अनुभवावसानत्वात् ब्रह्मज्ञानस्य। ब्रह्मज्ञान की परिणति अनुभव में ही होनी चाहिए। वेद का अंत अथवा लक्ष्य ब्रह्मानुभूति है, यही मोक्ष है। हम माया अथवा अविद्या के कारण अपने वास्तविक स्वरूप को समझ नहीं पाते इसलिए अपने को ब्रह्म से भिन्न मानते हैं, वस्तुतः हम भिन्न नहीं हैं। इसे वेदान्त दर्शन में ‘दशमस्त्वमसि’ के

आख्यान से स्पष्ट करने का प्रयास किया गया है। किसी गुरुकुल के दस विद्यार्थी एक साथ कहीं पास के गाँव में भिक्षाटन के लिए जा रहे थे। प्रस्थान के समय गुरु ने उनको गिनकर भेजा। वे दस थे। रास्ते में एक नाला था जिसे वे पारकर अपने को पुनः गिनने लगे, इस आशंका का समाधान करने के लिए कि कहीं उनमें से कोई डूब तो नहीं गया। प्रत्येक अन्तेवासी अपने मित्रों को गिनता था और अपने को छोड़ देता था। सभी ने यही प्रक्रिया अपनायी और अंत में सब रोने लगे कि उनका एक मित्र नाले के प्रवाह में बह गया। उनका रोना देखकर पास से गुजरते हुए एक साधु ने उनसे रोने का कारण पूछा और तथ्य जान लिया। उसने सभी को एक पंक्ति में खड़ा किया और अपनी छड़ी से ठोंकता हुआ गिनती प्रारम्भ किया और दसवें स्नातक के पास जाकर के कहा : तुम दसवें हो 'दशमस्त्वमसि'। यही वेदान्त की आत्मानुभूति या प्रत्यभिज्ञान है। यह वस्तुतः किसी अप्राप्त वस्तु की प्राप्ति नहीं है, यह 'प्राप्तस्य प्राप्तिः' है।

शंकराचार्य अपने अद्वैत दर्शन को उपनिषद् के वाक्यों के संकलन द्वारा स्थापित करते हैं वेदान्तवाक्य कुसुम ग्रथनार्थत्वात्। जैसे फूलों की माला बनाई जाती है उसी तरह से उपनिषद् के वाक्यों को वे चुनकर अद्वैत तत्त्व की स्थापना करते हैं। वेदान्त-सूत्र के समन्वयाधिकरण में वे यह भी दिखाते हैं कि वेदान्त वाक्यों में वस्तुतः विरोध नहीं है, वास्तविकता में उनमें एकवाक्यता है। अपने सिद्धान्त को स्थापित करने के लिए आचार्य ने अन्य दार्शनिक सम्प्रदायों का खण्डन भी किया है जिनमें सांख्य दर्शन का द्वैतवाद प्रमुख है। सदानन्द रचित वेदान्त-सार अद्वैत वेदान्त को सरल एवं संक्षेप में प्रस्तुत करने का सुन्दर प्रयास है।

अद्वैत वेदान्त के अध्ययन के लिए आचार्य शंकर ने कुछ अपेक्षाएँ बताई हैं जिन्हें साधनचतुष्टय कहा जाता है। ये हैं विवेक, वैराग्य, षट्सम्पत्ति एवं मुमुक्षुत्व।

यों भी उपनिषद् दर्शन इतना मूल्यवान और महत्त्वपूर्ण है कि सभी को इसके अध्ययन की पात्रता नहीं होती। उपनिषद् की परंपरा में ज्येष्ठ पुत्र अथवा प्रिय शिष्य को ही यह ज्ञान प्रदान किया जाता है। इस ज्ञान की तुलना में विश्व की सारी सम्पत्ति निरर्थक है। आत्म-ज्ञान के लिए ही नचिकेता यमराज के सारे प्रलोभनों से रीझता नहीं है और उनसे आत्मा के स्वरूप को प्राप्त करता है। कठोपनिषद् का यह आख्यान भगवद्गीता में भी प्रकारान्तर से उपलब्ध है। श्रीकृष्ण अर्जुन को आत्मा के बारे में बताते हैं कि यह शस्त्रों से काटा नहीं जा सकता, इसे आग जला नहीं सकती, हवा इसको बहा नहीं सकती, इत्यादि। जैसे हम अपने वस्त्र बदलते हैं उसी प्रकार यह आत्मा शरीर बदलती है। इसी प्रकार बृहदारण्यक उपनिषद् में मैत्रेयी याज्ञवल्क्य की आधी सम्पत्ति लेना स्वीकार नहीं करती। वह तो अपने पति से उनके आत्मज्ञान की सम्पदा में से आधा पाना चाहती है जिसे पाकर व्यक्ति मृत्यु से परे हो जाता है, अमर हो जाता है। यही आत्मज्ञान पराविद्या है विद्ययाऽमृतमश्नुते। यह विद्या आनुभूतिक

है, अनिर्वचनीय है। जो निर्वचन या व्याख्यान शास्त्रों में मिलता है वह तो वस्तुतः अविद्या है वाचारम्भण विकार ( छान्दोग्य उपनिषद्, VI.1.5) है, नामधेय है। परमतत्त्व तो मन और वाणी से परे है यतो वाचो निवर्तन्ते अप्राप्य मनसा सह। हमारा शास्त्रीय ज्ञान सीमित है। नारदसनत्कुमार आख्यान में छान्दोग्य उपनिषद् स्पष्ट रूप से कहता है कि जो कुछ भी दृश्य है वह अल्प है और जो भी अल्प है वह नाशवान है। सच्चा आनन्द तो अनन्त अथवा भूमा में ही है यो वै भूमा तत्सुखम्।

अद्वैत दर्शन को सबसे पहले व्यवस्थित रूप शंकराचार्य के परम गुरु गौड़पाद ने दिया है। उन्होंने माण्डूक्य उपनिषद् को आधार बनाकर आगमशास्त्र या माण्डूक्यकारिका में चेतना के चार स्तरों की व्याख्या की है। ये चार स्तर हैं जाग्रत, स्वप्न, सुषुप्ति तथा तुरीय। इनमें से प्रथम तीन स्तर एक दूसरे का परस्पर निषेध करते हैं। तुरीयावस्था का निषेध सम्भव नहीं। आचार्य शंकर ने गौड़पादकारिका पर स्वयं भाष्य लिखा है।

शंकरोत्तर अद्वैत वेदान्तियों में वाचस्पति मिश्र, सुरेश्वर, चित्सुख, मधुसूदन सरस्वती इत्यादि प्रमुख हैं। भारत के बाहर अद्वैत वेदान्त को भेजने का श्रेय मुगल शाहजादा दाराशिकोह को जाता है जिसके द्वारा फारसी भाषा में किये गये उपनिषदों के अनुवाद लैटिन में अनूदित हुए तथा यूरोप के लोग उनसे सुपरिचित हुए। स्वामी विवेकानन्द ने अमेरिका में वेदान्त दर्शन का बहुत ही सशक्त ढंग से प्रचार-प्रसार किया। इनकी मान्यता है कि वेदान्त में ही विश्वधर्म होने के सर्वाधिक गुण मिलते हैं। डॉ. राधाकृष्णन् ने 20वीं शताब्दी में अद्वैत वेदान्त के प्रचार-प्रसार में योगदान दिया। आज पूरे विश्व में वेदान्त दर्शन का प्रमुख स्थान है। इसको महत्त्व दिलाने में अमेरिका में हमारे मित्र डॉ. एस.एस. रामाराव पप्पू का भी योगदान है जो वेदान्त पर प्रतिवर्ष विश्व के विभिन्न देशों में परिषदों का आयोजन करते हैं। पिछले वर्ष जुलाई में उन्होंने 19वीं अन्तर्राष्ट्रीय वेदान्त महासभा का आयोजन मेसाचुसेट्स विश्वविद्यालय में किया था।

अद्वैत वेदान्त के अतिरिक्त, जैसा कि ऊपर कहा गया है, कुछ अन्य वेदान्त के सम्प्रदाय भी महत्त्वपूर्ण हैं। इनमें रामानुजाचार्य का विशिष्टाद्वैत वेदान्त बहुत ही श्रेष्ठ है। रामानुज ने वेदान्त-सूत्र पर जो भाष्य लिखा है उसे श्रीभाष्य कहते हैं। इसमें ब्रह्म को निर्गुण न मानकर सगुण माना गया है और जीव को उसका अंश। ब्रह्म और जीव में अंशी और अंश का सम्बन्ध है। ईश्वर की भक्ति से जीव को मोक्ष प्राप्त होता है। रामानुज के अनुसार जगत् भी मिथ्या नहीं है। उन्होंने आचार्य शंकर के मायावाद का खण्डन किया है। मध्वाचार्य का द्वैतवाद ब्रह्म और जीव में आत्यंतिक भेद मानता है। जीव और जगत् में भी भेद है। सभी जीव परस्पर भिन्न हैं। ईश्वर की कृपा से जीव को मोक्ष मिलता है। इसी प्रकार वेदान्त के अन्य सम्प्रदाय भी ईश्वर और जीव में भेद मानते हैं तथा जगत् की सत्ता स्वीकार करते हैं। उनके अनुसार भक्ति और प्रपत्ति मोक्ष के प्रमुख साधन हैं।



## दरकती धरती पर चिंतन-बीज-मंत्र : अज्ञेय

### श्रीराम परिहार\*

सच्चिदानंद हीरानंद वात्स्यायन 'अज्ञेय' के साहित्य-व्यक्तित्व ने गहरा प्रभाव भारतीय साहित्य पर छोड़ा है। उनके साहित्य-चिंतन में संस्कृति, समाज, क्षणवाद, व्यक्तिवाद, प्रकृति, परंपरा और सौंदर्य के गाढ़े रूपावन हैं। अज्ञेय का कवि निश्चित रूप से बड़ा है, लेकिन उनका गद्यकार भी अपने विस्तार में उतना ही गहरा और टटका है। अज्ञेय का निबंध-साहित्य सर्जनात्मकता से जुड़ी परिधियों का नवीन क्षितिज खोजता है। वे साहित्य, संस्कृति और समाज की अंतः प्रकृति और परिवर्तन की मूल अंतः ऊर्जा पर नए संदर्भों के साथ बात करते हुए पाठक को अनेक संभ्रमों से मुक्त करते हैं। छायावाद के बाद भारतीय काल-चिंतन, रूढ़ि, परंपरा, सौंदर्य प्रतिमान, कला के उद्देश्य, मिथक-अस्तित्व, शब्द की केंद्रीय भूमिका पर भी अपनी जड़ों से उखड़े आलोचकों-चिंतकों-सर्जकों के बौद्धिक सर्कस से नवीन किंतु पोची अवधारणाओं के छाए कुहासे को अज्ञेय 'त्रिशंकु' के निबंधों में बहुत हद तक दूर करते हैं। उनके निबंधों में साहित्य-चिंतन के साथ गहरा आत्म-मंथन है। वे अपने चिंतन में प्रकृत-भावभूमि पर विचरण करते हुए व्यक्ति-जीवन और साहित्य के मूल प्रश्नों को पाश्चात्य प्रभाव से मुक्त करते हैं।

अज्ञेय की कृति 'शाश्वती' के एक कथन के माध्यम से ही विमर्श को आगे बढ़ाते हैं—'मानव जब अवधारणा शक्ति पाकर, भाषा पाकर, आत्मचेतन होकर अपूर्वानुमेय हो जाता है, तभी वह साथ-साथ सामाजिक भी हो जाता है। पूर्वानुमान से परे चले जाना स्वाधीन हो जाना है, पर उसी के साथ और उसी मात्रा में सामाजिक हो जाना भी है।'<sup>1</sup> अज्ञेय मानव के आत्मचेतन और सामाजिक को इस कथन में जोड़कर देखते हैं। मानव के आत्मचेतन का विस्तार शब्द की दुनिया में साहित्य की बस्तियाँ बसाता है। 'साहित्य का संस्कृति और समाज-परिवर्तन की प्रक्रिया में कोई योगदान होता है या नहीं?' वे इस प्रश्न को बहुत अलग किंतु प्रामाणिक ढंग से खोजते

\* डॉ. श्रीराम परिहार प्राचार्य, पता: आजाद नगर, खंडवा-450001 (म.प्र.)

हैं। वे साहित्यकार की समाज परिवर्तन में 'एक्टिविस्ट' की भूमिका को सिर से नकारते हैं—'आज साहित्यिक रचना और सामाजिक परिवर्तन में जैसा सीधा समीकरण बनाया जा रहा है, उसे मैं बिलकुल अस्वीकार करता हूँ। समझता हूँ कि पिछले लगभग पचास वर्षों से इस तरह का सीधा संबंध बनाने और सिद्ध करने का जो एक प्रयत्न होता रहा है, उसने साहित्य का बहुत अहित किया है।'<sup>2</sup> वे साहित्यकार की अपेक्षा साहित्य में अंतर्निहित मूल्यों की शक्ति को संस्कृति और समाज-परिवर्तन की प्रक्रिया में प्रमुख मानते हैं—'आधारभूत मूल्य तो वे हैं, जिन्हें सर्जक-साहित्यकार की अंतर्दृष्टि समय-समय पर या बार-बार देख लेती है, दिखा देती है; उसके आलोक में सारा परिदृश्य बदल जाता है और सारी व्यवस्थाएँ, सारा समाज, सारी विरादरियाँ अपनी कर्म-प्रवृत्तियों को फिर से देखने को बाध्य हो जाती हैं।'<sup>3</sup> वे इस संबंध में अपनी स्थापना करते हुए कहते हैं—'कुछ साहित्य समाज को बदलने के काम आ सकता है, लेकिन श्रेष्ठ साहित्य समाज को बदलता नहीं, उसे मुक्त करता है। फिर उस मुक्ति में समाज के लिए और हाँ, संस्कृति के लिए, मानव मात्र के लिए बदलाव के सब रास्ते खुल जाते हैं।'<sup>4</sup>

डॉ. कृष्णदत्त पालीवाल द्वारा संपादित पुस्तक 'साहित्य-संस्कृति और समाज परिवर्तन की प्रक्रिया' का दूसरा निबंध है 'कला का स्वभाव और उद्देश्य'। इसमें कला को लेकर अज्ञेय का एकदम भिन्न दृष्टिकोण उजागर हुआ है। 'कला सामाजिक अनुपयोगिता की अनुभूति के विरुद्ध अपने को प्रमाणित करने का प्रयत्न अपर्याप्तता के विरुद्ध विद्रोह है।'<sup>5</sup> इसी परिभाषा में अज्ञेय का कला के प्रति एकदम नया सौंदर्यबोधी चिंतन जीवन के क्षेत्र-विस्तार के परिप्रेक्ष्य में विश्लेषित होता है। वे कहते हैं—'हमारे कल्पित 'कमजोर' प्राणी ने हमारे कल्पित समाज के जीवन में भाग लेना कठिन पाकर, अपनी अनुपयोगिता की अनुभूति से आहत होकर, अपने विद्रोह द्वारा उस जीवन का क्षेत्र विकसित कर दिया है उसे एक नई उपयोगिता सिखाई है सौंदर्य बोध। पहला कलाकार ऐसा ही प्राणी रहा होगा, पहली कलाचेष्टा ऐसा ही विद्रोह रही होगी, फिर चाहे वह रेखाओं द्वारा प्रकट हुआ हो, चाहे प्राणी द्वारा, चाहे ताल द्वारा, चाहे मिट्टी के लोंदों द्वारा।'<sup>6</sup> अज्ञेय के अनुसार कला के प्रस्फुटन के कारणकेंद्र में 'अपर्याप्तता' की भावना ही रहती है, जो व्यक्ति से विद्रोह करवाती है; यह विद्रोह ही कला-आयामों को उत्पन्न कर व्यक्ति की संपूर्णता की ओर ले जाता है। यह व्यक्ति की अपने को सिद्ध प्रमाणित करने की चेष्टा है। उसे अज्ञेय ने अंततः एक प्रकार का आत्मदान स्वीकार किया है। यहीं अज्ञेय कला के संदर्भ में उदात्त भाव का प्रतिपादन करते हुए आत्मदान, नैतिकता और स्वांतः सुखाय को सेतुबन्ध करते हैं।

'रूढ़ि और मौलिकता' पर अज्ञेय का चिंतन भारतीय धरातल पर खड़े होकर तर्कसम्मत ढंग से नई स्थापनाएँ करता है। जिस रूढ़ि और परंपरा को बिना गहराई



से समझे अस्वीकार किया जाता रहा है, उसे अज्ञेय कलाओं की सर्जन-प्रक्रिया और अनुभव-सिद्धि हेतु अनिवार्य मानते हैं। रूढि का उन्होंने उदार और विशालतर अर्थ लेते हुए उसकी साधना साहित्यकार के लिए वांछनीय ही नहीं; साहित्यिक प्रौढ़ता प्राप्त करने के लिए अनिवार्य भी सिद्ध की है। “साहित्यकार के लिए आवश्यक है कि साहित्य में और जीवन में ‘आसीत’ का और ‘अस्ति’ का, जो ‘अचिर’ हो गया है, उसका और जो ‘चिर’ है उसका, और इन दोनों की परस्परता, अन्योन्याश्रयता का, ज्ञान उसमें बना रहे।”<sup>7</sup> अज्ञेय प्रत्येक रचना और कलावस्तु में पूर्व परंपरा का सन्निवेश पाते हैं। प्रत्येक कवि और कलाकृति की पड़ताल करते समय उसके पूर्ववर्ती साहित्यकारों और कवियों-कलाकारों के संबंधों की जाँच करते हैं। “कोई भी कलावस्तु चाहे कितनी भी नई क्यों न हो, ऐसी वस्तु नहीं है, जो अकस्मात् अपने-आप घटित हो गई है; वह ऐसी वस्तु है, जो अपने-आप में नहीं, अपनी पूर्ववर्ती तमाम कला-वस्तुओं की परंपरा के साथ घटित हुई है।”<sup>8</sup> इस तरह वे साहित्य और कला के अनुभव-स्रोत में समय-समाज की क्रियात्मक गतिमानता को अवस्थित पाते हैं। इस निरंतरता में अंकन, मूल्यांकन के साथ नए का अंकुरण और विस्तार की प्रक्रिया में निरंतर रहती है। वे स्पष्ट कहते हैं—“प्रत्येक नई रचना के आते ही, पूर्ववर्ती परंपरा के साथ उसके संबंध, उनके परस्पर अनुपात और सापेक्ष मूल्य अथवा महत्त्व का फिर से अंकन हो जाता है; तथा ‘पुरातन’ और ‘नूतन’, ‘रूढ़ि’ और ‘मौलिक’, ‘परंपरा’ और ‘प्रतिभा’ में एक नया तारतम्य स्थापित हो जाता है।”<sup>9</sup> वे रूढ़ि और परंपरा के प्रति विद्रोह का सकारात्मक रूप इसमें पाते हैं कि हम अपने को परंपरा के आगे जोड़ दें। वे परंपरा की विकसित परिभाषा करते हैं—“वह वर्तमान के साथ अतीत की संबद्धता और तारतम्य का नाम है।”<sup>10</sup>

अज्ञेय भारतीय वाङ्मय और संस्कृति के अवधूत-अध्येता हैं। उनके अध्ययन की सरणियाँ प्रश्न-प्रति-प्रश्न में खुलती चलती हैं और बुद्धि तथा हृदय की आपसदारी के साक्ष्य में उत्तर को प्रस्तुत करती हैं। बातचीत की शैली में प्रश्न और परिस्थिति का परिचय होता है और समाधान की राह स्पष्ट होती जाती है। निबंध-शैली का इसे एक नयापन भी कहा जा सकता है। वे निबंधों में उन तत्त्वों को नए छोर से उठाते हैं, जिन्हें साहित्यिकों-आलोचकों ने नए-साहित्य की बिरादरी से बाहर ढकेलने की कोशिश की। ‘सौंदर्य-बोध और शिवत्व-बोध’ की विमर्श-परिधि में वे साहित्य में मूल्य, उक्ति वैचित्र्य, रूपवाद, शब्द की महत्ता और भाषा की उपादेयता के प्रश्नों से नए कोणों से टकराते हैं और परंपरा-प्रसूत किंतु संतुष्टिकारक समाधान खोजते हैं। इस रूप में एक तरह से वे भारतीय वाङ्मय की चिंतन-प्रक्रिया और साहित्य के कालजयी निकषों का समर्थन और पोषण करते हैं। “मूल्यांकन केवल आचार्यों के लिए महत्त्व रखता हो, ऐसा नहीं; साहित्य के प्रत्येक अध्येता के लिए यह एक गुरुतर प्रश्न है और लेखक के लिए तो उसकी मौलिकता असंदिग्ध है, क्योंकि कृतिकार अपनी कृति का सबसे पहला और कदाचित् सबसे अधिक निर्मम परीक्षक है।”<sup>11</sup>

अज्ञेय ने सौंदर्य-बोध को बुद्धि का व्यापार माना है। बुद्धि ही सौंदर्य-तत्त्वों की पहचान करती है। उन तत्त्वों की कसौटी मानव का अनुभव है। अतः वे बुद्धि और अनुभव का एक रिश्ता उजागर करते हैं। एक पारस्परिकता रेखांकित करते हुए ‘बुद्धि और हृदय’ की विपरीतताओं पर केंद्रित बहस को निरस्त करते हैं तथा आचार्य रामचंद्र शुक्ल की अवधारणा ‘यात्रा के लिए निकलती रही है बुद्धि किंतु हृदय साथ लेकर’ का एक तरह से विस्तार करते हैं। नए आलोचकों ने साहित्य में उक्ति की वक्रता को रूपवाद से अभिहित करते हुए उसे छिछला साहित्यिक कर्म सिद्ध करने की ‘चार्वाक कोशिश’ की। अज्ञेय वक्रता के सौंदर्य को प्रकृति और जीवन की मूल लय अथवा रिद्म की संपृक्ति अनुभव करते हुए कहते हैं—“लयात्मकता कला का अथवा सुंदर का एक मूल गुण है, तो क्या यह अपने अनुभूत सत्य का निरूपण ही नहीं है? इसी प्रकार हम मानते हैं कि सीधी रेखा सुंदर नहीं होती, वक्र रेखाएँ सुंदर होती हैं; यहाँ क्या फिर हम अपना अनुभव नहीं दोहरा रहे हैं? हमारे अंगों का कोई भी सहज निक्षेप वक्रता या गोलाई के लिए होता है—अबोध शिशु भी जब हाथ-पैर पटकता है, तो मंडलाकार गति सेसहज गति सीधी रेखा में होती ही नहीं, और सीधी रेखा में अंग-संचालन अत्यन्त क्लेश-साध्य होता है। अतः वक्रता को कला गुण या सौंदर्य-तत्त्व मानने में हम फिर अपना अनुभव दोहरा रहे हैं। गोचर अनुभव का कार्य-कारण-ज्ञान के सहारे (बुद्धि द्वारा) प्राप्त किया हुआ निचोड़ ही हमारे सौंदर्य-बोध का आधार है और चित्र या मूर्ति में जो रेखा की वक्रता है, अर्थात् जो दृश्य, स्पर्श अथवा स्थूल है, वही यदि काव्य में आकर उक्ति की वक्रता का परम सूक्ष्म रूप ले लेती है, तो क्या हमारी बुद्धि उसे पकड़ नहीं सकती? गोचर अनुभव से पाया हुआ सूक्ष्म बोध क्या वहाँ हमारा सहायक नहीं होता?”<sup>12</sup> यह कला के द्वारा आनंद प्राप्ति का और हमारे उन्नयन का सहज उपक्रम है। अनुभव, बुद्धि, विवेक निरंतर विकासशील हैं।

सच्चिदानंद हीरानंद वात्स्यायन ‘अज्ञेय’ अपनी निबंध-कृति ‘आत्मनेपद’ में संगृहीत ‘भारतीयता’ नामक निबंध में काल की अवधारणा के आलोक में बहुत महत्त्वपूर्ण बात कहते हैं—“भारतीयता का पहला लक्षण या गुण है सनातन की भावना, कला की भावना, काल के आदि-हीन, अंत-हीन प्रवाह की भावना और काल केवल वैज्ञानिक दृष्टि से क्षणों की सरणी नहीं, काल हमसे, भारतीय जाति से, संबद्ध विशिष्ट और निजी क्षणों की सरणी के रूप में।”<sup>13</sup> अपनी इस सम्मति का विस्तार ‘काल का डमरू-नाद’ निबंध में वे करते हैं। देश और काल के बीच ही सारा सौंदर्य-विधान है। काल की लघुतम इकाई ‘क्षण’ की निरंतरता और अजस्र अनवरतता काल की अखंडता और अनंतता का मूलाधार है। ‘क्षण’ इसलिए महत्त्वपूर्ण है कि वह काल का अत्यल्प हिस्सा होते हुए भी काल के वैराट्य और निस्सीमता का बीज है। ‘क्षण’ काल का ‘अणु’ है। जिस ‘क्षण’ की महत्ता वात्स्यायन जी काल-प्रवाह और काल-सिंधु के लिए प्रदर्शित करते हैं, उसी क्षण को अनुभूति की सफलता और उपलब्धि के लिए भी

साहित्यायन में अनिवार्य आसन देते हैं। वे काल को डमरू के प्रतीक से व्याख्यायित करते हैं। डमरू का कटि-बिंदु वर्तमान है और उसके दोनों भाग अतीत-भविष्य। काल चक्राकार है। इसी बिंदु पर वे अपने चिंतन का विस्तार करते हैं। “काल का वृत्त भी और उस पर डमरू द्वारा प्रतीकित क्षण-चेतना भी जो अतीत-वर्तमान-भविष्यत् की नित्य-शृंखला स्वीकार करती हुई भी अपनी दृष्टि केंद्रित कर रही है उस क्षण पर ही जो यथाशक्य छायारहित क्षण हैस्मृति और आकांक्षा दोनों के संस्पर्श से यथासंभव मुक्त है। यह एक निरवधि, प्रवहमान अस्ति हैप्रत्यावर्ती सनातन काल के चक्र पर अविखंडनीय कालाणुओं का अजस्र क्रम।”<sup>14</sup> (देखिए संदर्भित ग्रंथ में चित्र क्र. 9)

अज्ञेय विज्ञान, पुराण और रचनाकर्म के अंतःसंबंधों और अंतःक्रियाओं के बारे में सुचिंतित विवेचन करते हैं। उनका निबंध ‘वैज्ञानिक सत्ता, मिथकीय सत्ता और कवि’ विज्ञान मिथक और रचना के वास्तविक और सही अर्थ का स्थापन करता है। वे चार बुनियादी प्रश्नों को उठाते हुए उनकी विश्लेषण परिधि में सनातन अवधारणाओं से लेकर वर्तमान एक की मनीषा-धरोहर को पाँखुरी-पाँखुरी खोलते हुए सँवारते हैं। वे प्रश्न हैंसृष्टि कैसे हुई? पर्यावरण कैसे बना? समाज कैसे बना? मैं इसमें कहाँ हूँ? कौन हूँ? ये चार बुनियादी प्रश्न हैं। मिथक इन प्रश्नों के उत्तर खोजता है और विज्ञान भी। लेकिन दोनों की समान प्रश्न-भूमि होने पर भी आगे चलकर दोनों के रास्ते भिन्न हो जाते हैं“पुराण की यात्रा में एक यात्रान्त भी है, क्योंकि वह एक निश्चयात्मक प्रतीति चाहता है, एक ध्रुव विश्वास, जिसमें जिज्ञासा का शमन हो जाता है; दूसरी ओर विज्ञान का कोई यात्रान्त नहीं है, कोई मंजिल नहीं है बल्कि क्षितिजों का एक क्रम है। विज्ञान मूल प्रश्नों की ओर लौटता नहीं क्योंकि यात्रा के दौरान प्रश्न रूपान्तरित हो चुके होते हैं।”<sup>15</sup> मूल चार प्रश्नों का कर्ता मनुष्य ही है। वह उत्तर खोजी प्रक्रिया में कवि के रूप में जब प्रस्तुत होता है, तो विज्ञान और मिथक द्वारा प्रतिपादित तथ्यों, विश्वासों, अभिप्रायों से सम्पृक्त होता हुआ अपनी दृष्टि विकसित करता है। एक ऐसी सम्यक् दृष्टि जो दोनों को जोड़ सके।

अज्ञेय व्यक्ति की, रचनाकार की स्वाधीनता को उसके दृष्टि-विकास में आधारभूत कारक स्वीकार करते हैं। व्यक्ति या रचनाकार अपनी दृष्टि या किसी भी चीज के लिए उत्तरदायी तभी हो सकता है, जब वह स्वाधीन कर्मी हो। अज्ञेय स्पष्ट करते हैं कि यदि व्यक्ति स्वाधीन नहीं है, उसे किसी चीज के लिए उत्तरदायी नहीं ठहराया जा सकता। “सिर्फ स्वाधीन कर्मी होने के दावे के साथ ही मैं यह कह सकता हूँ कि यह मेरा ‘कर्म’ है। अगर मैं स्वाधीन नहीं हूँ, तो जो कुछ है वह मैंने नहीं किया है, चाहे वह मेरे ही निमित्त से हुआ; और जब मैंने नहीं किया, तो उसके लिए मैं उत्तरदायी नहीं हूँ। तो उत्तरदायी होने के पहली शर्त स्वाधीन होना है।”<sup>16</sup> अज्ञेय अपने निबंध‘आँखों देखी और कागद लेखी’ में वे व्यक्ति की स्वाधीनता का धर्म के संदर्भ में विवेचन करते हैं। भारतीय धर्म ने स्वाधीनता का वातावरण दिया। भारतीय

धर्म का आधार किसी विश्वास की रूढ़ि नहीं; आचरण रहा है। लिखते हैं“किसी मतवादी रूढ़ि से अलग धर्म की उद्भावना में संसार को भारतीय चिंतन की बहुत बड़ी देन मानता हूँ। संसार के किसी धर्म ने मनुष्य के मानस को उतनी स्वाधीनता का वातावरण नहीं दिया, जितना भारतीय धर्म ने; किसी ने स्वस्थ जीवन की उतनी गहरी नींव नहीं डाली, जितनी भारतीय धर्म ने। अवश्य ही इस समझ तक पहुँचने में मुझे समय लगा और यह भी नहीं है कि यात्रा में मैंने ठोकरें नहीं खाईं। लेकिन यहाँ तक पहुँचकर मुझे जो सुख मिला है, उसे वे ही लोग समझ सकते हैं जो निष्ठापूर्वक तीर्थयात्रा कर के घर लौटते हैं।”<sup>17</sup> सनातन धर्म सनातन मूल्यों पर आधारित है, जिसके सत्य, ऋतु, तप, दान आदि मूल तत्त्व हैं। भारतीय लोक जीवन में इसीलिए ऋतुओं और प्रकृति का अटल और सघन स्थान है।

अपने ‘शब्द, मौन, अस्तित्व’ निबंध में वे स्पष्ट कहते हैं“मेरी खोज भाषा की खोज नहीं है, केवल शब्दों की खोज है। भाषा का उपयोग मैं करता हूँ, निस्संदेह; लेकिन कवि के नाते जो मैं कहता हूँ, वह भाषा के द्वारा नहीं, केवल शब्दों के द्वारा।”<sup>18</sup> वे विश्वस्त हैं कि ‘केवल सही शब्द मिल जाएँ तो’ भाषा का सही कलात्मक स्वरूप बनता है जो संप्रेषण में सहायक होकर आनंदानुभूति कराता है। ‘जोग लिखी’ संग्रह के ‘उन्मेषशालिनी प्रतिभा’ नामक निबंध में कवि प्रतिभा, ममेतर के संदर्भ में संप्रेषण का महत्त्व प्रतिपादित करते हुए वे कहते हैं“मैं निरपवाद रूप से मानता हूँ कि समस्त रचनाकर्म में दूसरे तक पहुँचना एक अनिवार्य प्रेरणा है। रचना मात्र का लक्ष्य आनन्द है, और यह आनन्द अभिव्यक्ति का नहीं, संप्रेषण का है।”<sup>19</sup>

‘नदी के द्वीप’ कविता और उपन्यास के माध्यम से अज्ञेय का व्यक्तिवादी-सामाजिक चिंतन स्फुरित हुआ है। समाज-चिंतकों ने भी व्यक्ति को उसकी केंद्रापसारी शक्तियों के साथ ही सामाजिक दायित्वों के बीच खड़ा पाया है। व्यक्ति एक इकाई है, लेकिन सामाजिकता और सामूहिकता के सर्जन में एक-एक मिलकर दहाई बनने की शक्ति-गतिशीलता भी उसमें है। ‘आत्मनेपद’ में उनका वक्तव्य है“व्यक्ति अपने सामाजिक संस्कारों का पुंज भी है, प्रतिबिम्ब भी, पुतला भी; इसी तरह वह अपनी जैविक परंपरा का भी प्रतिबिम्ब और पुतला हैजैविक सामाजिक के विरोध में नहीं।...वह निरा पुतला, निरा जीव नहीं, वह व्यक्ति है, बुद्धि विवेक संपन्न व्यक्ति।”<sup>20</sup>

वात्स्यायन जी के पास सौंदर्य की अखण्ड दृष्टि है। उनके अनुभूति की सघनता जितनी गहरी और प्रशान्त है, अभिव्यक्ति उतनी ही तीव्रतर और नव्यतर है। अणु-अणु, तृण-तृण, किरण-किरण, बिन्दु-बिन्दु में तरलायित और आलोड़ित सौंदर्य को निसर्ग और मनुष्य के भीतर स्थिर गतिमय सौंदर्य की अखण्डता में समर्पित उनकी ‘असाध्य वीणा’ बजती है।

‘हरी घास पर क्षण भर’ बिरमकर, बैठकर, समाधिस्थ होकर अज्ञेय का प्रज्ञान सृष्टि और मानव की अंतःप्रक्रियाओं और अनुभूति संज्ञान को साहित्य में प्रत्ययीभूत कर सका है। यह चिंतन अंत में आर्ष अनुभव के क्षेत्र में प्रवेश कर जाता है।

घर के भीतर प्रकाश हो। इसकी मुझे चिंता नहीं;  
प्रकाश के घेरे के भीतर। मेरा घर हो।  
इसी की मुझे तलाश है।

(ऐसा कोई घर देखा है आपने।)

## संदर्भ

1. शाश्वतीअज्ञेय, पृ. 38
2. साहित्य, संस्कृति और समाज परिवर्तन की प्रक्रियासं. कृष्णदत्त पालीवाल, पृ. 27
3. वही
4. वही, पृ. 41
5. त्रिशंकुअज्ञेयपृष्ठ 26
6. वही, पृ. 29
7. वही, पृ. 34
8. वही, पृ. 35
9. वही,
10. वही, पृ. 44
11. साहित्य, संस्कृति और समाज परिवर्तन की प्रक्रियासं. कृष्णदत्त पालीवालपृ. 61
12. वही, पृ. 63
13. आत्मनेपदअज्ञेयपृष्ठ 100
14. साहित्य, संस्कृति और समाज परिवर्तन की प्रक्रिया सं. कृष्णदत्त पालीवालपृ. 78
15. वही, पृ. 83
16. जोग लिखी अज्ञेय पृष्ठ 15
17. वही, पृ. 30
18. वही, पृ. 106
19. वही, पृ. 63
20. आत्मनेपद अज्ञेय, पृ. 71

## परमहंस की तपस्थली में

### डॉ. भुवनेश्वर प्रसाद गुरुमैता

बाल्यावस्था से ही मुझे कलकत्ता की यात्रा की ललक थी। मेरे स्व. पिता जी ने वहीं के विद्यासागर कॉलेज से बी.ए. किया था। बाद में भी यदा-कदा कलकत्ता जाते रहते थे। मुझे भलीभाँति स्मरण है कि वे हर यात्रा के बाद वहाँ से खजूर का गुड़ तथा विवेकानंद, परमहंस रामकृष्ण और माँ काली के चित्र अवश्य लाते थे। उन्हें भेंट स्वरूप हमारे चाचावृंद को अर्पित करते थे। तबसे मैंने रामकृष्ण परमहंस की तपस्थली कलकत्ता नगरी के दर्शन का चाव मन में सँजोकर रखा था। तरुणाई में परमेश्वर ने ऐसे कई सुअवसर उपलब्ध करवा दिए। अपने शोधकार्य के सिलसिले में गुरुदेव आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी ने मुझे वहीं की नेशनल लायब्रेरी से सामग्री जुटाने भेजा। साथ ही डॉ. कल्याणमल लोढ़ा के नाम से एक पत्र भी व्यवस्था के लिए लिख दिया था।

कलकत्ते में मैंने पहले आशुतोष मुखर्जी रोड और बाद में बांगड़ बिल्डिंग में अपना आवास बनाया। आरंभ में ही मैंने कालीघाट स्थित माँ काली, दक्षिणेश्वर में स्थित रामकृष्ण परमहंस द्वारा पूजित भवतारिणी काली और बेलूर मठ का दर्शन कर लिये थे। बाद में विश्वभारती में आयोजित भारतीय इतिहास अनुसंधान परिषद् के अधिवेशन के अवसर पर भी साल्ट लेक से बस से चलकर इन स्थानों का दर्शन किया था। तीसरी बार अपनी पोती कुमारी मीनाक्षी को जब मेडिकल की परीक्षा के लिए ले गया तो मुझे इन स्थानों को गौर से देखने और दिखाने का स्वर्गिक अवसर मिल गया।

परमहंस जी की पावन तपस्थली का विस्तृत विवरण इसी अवधि में प्राप्त कर सका। दक्षिणेश्वर की इस यात्रा में हुलसित मन से मेरा साथ निभाती है पोती मीनाक्षी। हावड़ा से हमलोग पहले हथरिक्शे से यात्रा प्रारंभ करके ऑटोरिक्शा को पकड़ते हैं। पुनश्च ऑटो हमें लेकर बसस्टैंड तक बढ़ता है। वहीं से पुराने ढंग की बस पकड़कर ऊबड़-खाबड़ मार्ग से पंद्रह-बीस किलोमीटर की यात्रा के बाद उस

\* डॉ. भुवनेश्वर प्रसाद गुरुमैता, पो. मटियारी, जिला-सुपौल-854339 (बिहार)

ऐतिहासिक पुण्यभूमि पर पहुँच जाते हैं। सर्वप्रथम हमलोग दुकान से माला-फूल, धूप-नेवैद्य आदि खरीदते हैं तथा घाट से गंगाजल लेकर मंदिर के मुख्य द्वार पर पहुँचते हैं। वहीं मैं अपनी पोती को कहता हूँ 'नमन करो इस द्वार की सीढ़ी को, जहाँ भगवान रामकृष्ण, माँ शारदा और स्वामी विवेकानंद तथा जाने कितने ही असंख्य महापुरुषों के चरण पड़े होंगे।' उन महापुरुषों के पदचिह्नों को ढूँढ़ना यद्यपि कठिन था, तथापि कल्पना तो कर ही रहा था।

काल के प्रवाह में ऐतिहासिक पावन चिह्न यद्यपि विलुप्त हो गए हैं, तथापि भक्तों के श्रद्धालु मानसों में वज्रलिपि की तरह वे आज भी अंकित हैं। तभी तो इतनी श्रद्धा और विश्वास के साथ असंख्य दर्शकों की भीड़ यहाँ जमी रहती है। नाना प्रकार के विचारों के ऊहापोह और अनंत भावनाओं की तरंगों में मेरा जिज्ञासु मन उद्वेलित हो रहा है। इस प्रधान द्वार पर ही मेरे पाँव ठमक जाते हैं। मंदिर के विशाल परिवेश का अवलोकन करता हुआ खो जाता हूँ। अनुभूति को व्यक्त करने के लिए शब्द नहीं। मौन तोड़ता हूँ। तब अपनी पौत्री को इस विस्तृत परिवेश का प्रथम परिचय देता हूँ।

दाईं ओर परमहंस का आवास। बाईं ओर माँ काली का यह विशाल मंदिर। दाईं ओर गंगा के घाटों के समानांतर बारह शिवलिंगों की लंबी कतार। तीनों लोकों से सर्वथा न्यारा यह आवेष्टन।

अनयास मेरी दृष्टि द्वार पर अंकित दो महार्घ श्लोकों पर जाती है। दोनों ही महार्घक मंत्र श्वेताश्वर उपनिषद् के हैं। इनको उद्धृत करना उन लोगों के लिए मैं अपना पावन कर्तव्य समझता हूँ, जिन्हें दक्षिणेश्वर की यात्रा का सुयोग न मिल पाया हो। पहला मंत्र इस प्रकार है :

*तमीश्वारानां परमं महेश्वरं तं देवतानां परमं च देवतम् ।  
पतिं पतीनां परमं परस्ताद् विदाम देवं परमीश मीड्यम् ॥(6.7)॥*

ध्यान के द्वारा परमात्मा का प्रत्यक्ष करने वाले महात्मा कहते हैं कि वे परमब्रह्म पुरुषोत्तम समस्त ईश्वरों के लोकपालों के भी शासक हैं। समस्त देवताओं के परम आराध्य हैं। समस्त ब्रह्मांडों के स्वामी हैं। उन प्रकाश स्वरूप परमात्मा से श्रेष्ठ कोई नहीं है। वे ही इस जगत् के सर्वश्रेष्ठ कारण हैं और वे सर्वरूप होकर भी सबसे सर्वथा पृथक् हैं।

दूसरा मंत्र इस प्रकार है :

*एको देवः सर्वभूतेषु गूढः सर्वभूतान्तरात्मा ।  
कर्माध्यक्षः सर्वभूताधिवासः साक्षी चेता केवलो निर्गुणश्च ॥(6/11)*

अर्थात् वे एक ही परमदेव परमेश्वर समस्त प्राणियों के हृदयरूप गुहा में छिपे हुए हैं, वे सर्वव्यापी और समस्त प्राणियों के अंतर्दामी परमात्मा हैं। वे सबके कर्मों के अधिष्ठाता/ उनको कर्मानुसार फल देनेवाले और समस्त प्राणियों के निवास स्थानआश्रय

हैं। तथा वे ही सबके साक्षी-शुभाशुभ कर्म को देखनेवाले परम चेतनस्वरूप तथा सबको चेतना प्रदान करनेवाले, सर्वथा विशुद्ध अर्थात् निर्लेप और प्रकृति के गुणों से अतीत भी हैं।

इस द्वार से पावन परिवेष्टन में प्रवेश करते ही सामने बाईं ओर इस विशाल मंदिर का दर्शन होता है, जिसमें भवतारिणी माँ काली की प्रतिमा विराजती है। किंतु, दर्शनार्थियों की इतनी लंबी पंक्ति में खड़े होकर ऐसा प्रतीत होता है कि दर्शनस्थल तक पहुँचते हुए प्रायः घंटा भर समय लग जाएगा। क्योंकि, लोग भी चींटी की चाल में ही चल रहे थे। हमारी व्यग्रता देखकर सामने के एक भद्र बंगाली महोदय ने सुझाव दिया कि तब तक हम लोग बारहों शिवलिंगों के दर्शन करके आ जाएँ। तब वे विस्तारपूर्वक मंदिर का विवरण सुनाएँगे। मैंने भी इसे व्यावहारिक सुझाव समझा और हम देश के द्वादश ज्योतिर्लिंगोंसोमनाथ, मल्लिकार्जुन, महाकाल, ओंकारेश्वर, वैद्यनाथ, भीमशंकर, रामेश्वर, नागेश्वर, विश्वनाथ, त्र्यम्बकेश्वर, केदारनाथ तथा घुश्मेश्वर के नामों पर बने बारहों शिव-मंदिरों में जाकर पूजन-अर्चन कर पुनश्च वहीं लौट आते हैं। मुझे तो देश भर के बारहों ज्योतिर्लिंगों के दर्शन का सौभाग्य भी मिल चुका है, लेकिन यहाँ तो पोती को विशेष रूप से दिखलाना था। लौटकर आने पर उसी बंगाली सज्जन के साथ हमलोग पूर्ववत् चल पड़े। उसी क्रम में टूटी-फूटी हिंदी में उन्होंने जो कुछ बताया और मैंने भी जो कुछ जानकारी प्राप्त की थी, तदनुसार मंदिरविषयक ऐतिहासिक विवरण इस प्रकार है

देखते हैं, ऐसा भालो (सुंदर) मंदिर? डेढ़ सौ साल पहले यहाँ कुछ भी नहीं था। दक्षिणेश्वर नाम का एक छोटा-सा गाँव था। यहाँ की रानी रासमती विधवा थी। उनके एक दामाद मथुरा बाबू ही उनके राजकाज की व्यवस्था देखते थे। उन्हीं के सहयोग से रानी ने साठ बीघे के विशाल परिसर में इस भव्य मंदिर का निर्माण करवाया। सन् 1847 ई. में इसका बनना प्रारंभ हुआ और आठ साल में पूरा हुआ। इसके अंतर्गत राधाकांत मंदिर, द्वादश शिवलिंग मंदिर, सभामंडप, गंगाघाट, भोगघर, भंडार घर, नौबतखाना, अतिथिशाला और सुंदर पुष्पोद्यान का भी निर्माण किया गया। सन् 1855 ई. में काली की प्राण-प्रतिष्ठा करवाई गई। उसके प्रथम पुजारी राजकुमार चट्टोपाध्याय नियुक्त किए गए। वे रामकृष्ण परमहंस के अग्रज थे।

कालांतर में रामकृष्ण देव प्रधान पुजारी के पद पर प्रतिष्ठित हुए। उनके साथ ही उनकी धर्म पत्नी माँ शारदा भी सेवारत हुई। माँ काली के परम भक्त के रूप में रामकृष्ण परमहंस की कीर्तिकौमुदी दिग्दिगन्त फैलती गई। वे काली माँ की प्रतिमा में साक्षात् माँ का दर्शन करने लगे। यहाँ तक कि वे उनसे प्रत्यक्ष बातें भी करने लगे। यह उनकी कठिन तपस्या का ही फल था कि पाषाण की प्रतिमा उनके लिए प्राणवंत माँ काली के रूप में दृष्टिगोचर हुई। यह उन्हीं के वश की बात थी कि आधुनिक शिक्षा प्राप्त नरेंद्र जैसे युवा के मानस में माँ काली के प्रति अविरोध भक्ति और

विश्वास का संचार हो गया और वे विवेकानंद के नाम से विश्व विख्यात हुए। इसी स्थान पर रामकृष्ण देव ने भक्ति और वेदांत की गंगा को अपने ब्रह्मकर्मंडल से प्रस्रवित किया। भगीरथसम विवेकानंद ने दिग्दिगंत देशाटन कर समग्र विश्व को उसका अमृतपान कराया; अंतर्राष्ट्रीय और मानवीय परिवेश पर भारतीय संस्कृति का वर्चस्व स्थापित किया।

नरेंद्रनाथ के दक्षिणेश्वर आने के पहले ही श्रीरामकृष्ण देव नरेंद्र के स्वरूप के संबंध में जान चुके थे कि वे सप्तर्षि मंडल के महर्षि हैं। एक दिन कलकत्ते में सुरेंद्रनाथ मित्र के मकान पर नरेंद्रनाथ ने जब भजन गया 'मन रे चल ओहि धामे' तो परमहंस की भावसमाधि लग गई। बाद में उन्हें दक्षिणेश्वर आने का निमंत्रण दिया, जिसे नरेंद्र अस्वीकार न कर सके। इस घटना के बाद नरेंद्र ने जब बी.ए. की परीक्षा पास की और विवाह के प्रति विद्रोह कर बैठे, तब उनके वैराग्यप्रवर मन को देखकर एक दिन डॉ. रामचंद्र दत्त ने उन्हें परमहंस रामकृष्ण देव के पास जाने की सलाह दी। उनसे प्रेरित हो वे दक्षिणेश्वर पहुँचे।

1818 ई. का दिसंबर मास था। नरेंद्रनाथ ने ज्योंही उनके कमरे में प्रवेश किया, ठाकुर प्रसन्नता से नाच उठे। इस बार भी उनके भजन के मधुर स्वर की झनकार पर अपने को सँभाल न सके तथा समाधि में लीन हो गए। दूसरे ही क्षण रोते हुए हाथ जोड़कर कहा 'मैं जानता हूँ प्रभु! तुम नर रूपी नारायण हो।' बातचीत के क्रम में नरेंद्र ने सीधा प्रश्न किया 'क्या आपने ईश्वर को देखा है?' परमहंस का उत्तर था 'हाँ, मैं ईश्वर को ठीक उसी प्रकार देखता हूँ, जैसे तुम्हें। लोग माँ की प्रतिमा में माँ का दर्शन करते हैं, मुझे माँ पहले दीखती है, प्रतिमा बाद में।' नरेंद्र नतमस्तक हो गए। गुरु के स्पर्श से उनकी सारी दुनिया बदल गई।

सन् 1884 ई. में नरेंद्र के पूज्य पिता का आश्रय सदा-सदा के लिए समाप्त होने पर सात व्यक्तियों के अन्न-वस्त्र का प्रश्न सम्मुख खड़ा हुआ। भूख-प्यास की ज्वाला में जलते परिवार के लिए तड़पते वे परमहंस के पास पहुँचे।

यंत्रणा के इन्हीं क्षणों में वे ठाकुर से बोले "यदि आप अपनी 'माँ' से कहें तो वे मेरे सारे कष्टों का निवारण कर सकती हैं।" ठाकुर मंद स्वर में बोले "जा, आज रात को तू माँ से जो कुछ माँगेगा, वह तुझे देगी।" रात को माँ काली की चैतन्य मूर्ति को देखकर आत्मविभोर हो वे अपना सारा दुःख भूल गए। नतमस्तक होकर बोले 'माँ मुझे विवेक दो, वैराग्य दो, ज्ञान और भक्ति दो, अपना साक्षात्कार होने दो।' लेकिन, बाहर आने पर वे माँ-बहनों के कष्ट भूल न पाए। ठाकुर के कहने पर दो बार पुनः गए। एक बार भी वे अपनी बात कह न सके। ठाकुर से बोले 'आपने ही मेरा मन पलट दिया। अब आपको ही कोई न कोई प्रबंध करना है।' ठाकुर बोले 'अच्छा जा! माँ से कहूँगा कि तेरे परिवार को अन्न-वस्त्र का अभाव न हो।' नरेंद्र को काली की प्रत्यक्ष महिमा अब समझ में आ गई थी।

ठाकुर के देहत्याग के समय नरेंद्र सर्वदा साथ रहते थे। एक दिन एक कागज पर लिखकर ठाकुर ने कहा 'नरेंद्र लोकशिक्षा देगा।' एक दिन संध्या समय उन्होंने नरेंद्र को बुलाया। दरवाजा बंद कर दिया। नरेंद्र की आँखों में एकटक देखते हुए समाधि में डूब गए। उसी समय उनके शरीर से एक ज्योतिपुंज निकला, जो नरेंद्र के शरीर में विलीन हो गया। फिर क्या था? वे ध्यानस्थ हो गए। चेतना में लौटने पर देखा कि आनंदविह्वल हो रामकृष्ण देव अश्रुधारा बहाते कह रहे थे 'आज मैं सर्वस्व तुझे देकर फकीर बन गया। तू इस शक्तिबल पर संसार में अनेक कार्य कर सकेगा और काम संपन्न कर लौट जाएगा।' यह सुनकर नरेंद्रनाथ बिलख पड़े। 16 अगस्त, 1886 को 10 बजकर 6 मिनट पर रात्रि की महानिशा में तीन बार 'काली' का नाम उच्चारण कर परमहंस महासमाधि में लीन हो गए। इस घटना के पश्चात् भी नरेंद्र अपने गुरु के आदेश से ही मानवता के कल्याण हेतु हिंदू धर्म का प्रसार और राष्ट्र चेतना के जागरण में संलग्न रहे। परमहंस की कृपा से ही उनकी आमोघवाणी 11 सितंबर, 1893 ई. को शिकागो की विश्व धर्मसभा के मंच से गूँजी और पाश्चात्य जगत् के यात्रिक मानवों के अंतःकरण में क्षण भर के लिए प्रथम बार मानव जाति के एकत्व की अनुभूति उत्पन्न हुई। विवेकानंद की वेदांतभावित वाणी में मानवमात्र के प्रति संवेदना ही ध्वनित हो रही थी। विश्व प्रसिद्ध रोमा रोलॉ ने लिखा है 'यही श्री रामकृष्ण देव का निःश्वास था। उनके महान् शिष्य के भाषण में शाश्वत प्रेम की वाणी गूँज रही थी।'

मैं इस पुण्यस्थली की पृष्ठभूमि और बंगाली मोशाय के विवरण-कथन में बहुत तल्लीन हो जाता हूँ। तभी भक्तों की पंक्ति कुछ गतिशील होकर मंदिर के सन्निकट पहुँच जाती है और मैं भावविभोर हो सप्तश्लोकी दुर्गा, कचव, अर्गला और कुंजिका स्तोत्रों का क्रमशः पाठ करने लगता हूँ। अंततः अपने को माँ की प्रतिमा के सम्मुख पाकर रोमांचित हो जाता हूँ। कुछ क्षण के लिए ध्यानस्थ। पुजारी टोकते हैं। उधर मीनाक्षी फूल-माला, नैवेद्य-चंदन आदि अर्पित करती है, जिन्हें भोग लगाकर हमें प्रसाद के रूप में लौटाया जाता है। उस प्रसाद में माँ को मानो स्नेह चुपड़ा हुआ है। माँ की ममता को रेखांकित करना अपने बस की बात कहाँ?

एक ही साथ दो-दो संसारों का संयोग मिलता है। एक संसार है समागम का। दूसरा संसार है, बिछुड़ने का। वह उतना ही अधिक वेधक। दर्शन का सुख और उससे वंचित होने का दुःख! मानो, हाथ में आकर कोई चीज वलात् चली गई हो! अंतरमन से माता की प्रतिमा में देवत्व स्थापित कर यहाँ के इतिहास में गोता खाने लगता हूँ कि यहीं पर परमहंस और नरेंद्र माँ काली से वार्तालाप किया करते रहे होंगे।

आँखों से माँ का स्वरूप पानकर चित्त में बैठा लेता हूँ लपलपाती लाल जिह्वा वाली माँ अपनी श्याम प्रतिमा के गले में मुंडमाल धारण कर शिव की छाती पर दायँ पाँव आगे और बायँ पीछे की हुई खड़ी हैं। चतुर्भुजी माता अपने हाथों में खप्पर, काता



और नरमुंड धारण की हुई वरदहस्त से भक्तों को वरदान की वृष्टि कर रही हैं। अत्यंत सौम्य और अत्यंत रौद्र उनकी मूर्ति भक्तों के लिए ममत्व और दुष्टों के लिए भय का संचार कर रही है। भारी मन से आगे बढ़ने को मजबूर होता हूँ। समय इतना कम है कि माता के सम्मुख एक ही स्तोत्र सुना पाता हूँ

*शरणागत दीनार्त परित्राण परायणे ।*

*सर्व स्यार्ति हरे देवि नारायणि नमोऽस्तुते॥*

*सर्वाबाधा प्रशमनं त्रैलोक्यस्य अखिलेश्वरी ।*

*एवमेव त्वया कार्यमस्मद्वैरि विनाशनम् ॥*

यह स्थान छोड़ने का मन नहीं करता, लेकिन आधा-अधूरा स्तोत्र सुनाता कुछ भूला-सा, कुछ खोया-सा आगे बढ़ने को विवश होता हूँ। बंगाली मोशाय प्रदक्षिणा पथ बताते हैं। उस क्रम में दुर्गासप्तशती के अनेक मंत्रों को मंदिर की बाहरी भित्तियों पर लिपिबद्ध पाता हूँ:

*देवि प्रपन्नार्तिहरे प्रसीद प्रसीद मातर्जगतोऽखिलस्व ।*

*प्रसीद विश्वेश्वरी पाहि विश्वं त्वमीश्वरी देवि चराचरस्या॥*

विश्वव्यापी विपत्तियों के नाश के लिए इसका हमलोग पाठ किया करते हैं। उसी प्रकार विश्व के पाप-ताप निवारण के लिए भी यह श्लोक मंदिर की बाहरी भित्ति पर अंकित है :

*देवि प्रसीद परिपालय नोऽरिभीतेर्नित्यं यथासुरवधान धुनैव सद्यः ।*

*पापानि सर्वजगतां प्रशमं नयाशु उत्पादपाक जनितांश्च महोपसर्गान् ॥*

माँ के दर्शन के बाद हमलोग ठाकुर जी के निवास-स्थान पर पहुँचते हैं। उनके प्रयोग की प्रत्येक वस्तु को इस कक्ष में रखकर एक पुनीत संग्रहालय का रूप प्रदान किया गया है। कुछ देर वहाँ बैठकर ध्यान करता हूँ और चित्त संसार को भूलकर भगवान रामकृष्ण के चरित में डूब जाता है। बाद में हमलोग गंगा के किनारे चलकर मंदिर के परिसर में ही पंचमुंडी आश्रम पहुँचते हैं। वहाँ परमहंस जी तांत्रिक साधना किया करते थे। उसी क्रम में यहाँ पर साँप, कुत्ता, लोमड़ी, वृषभ और मनुष्य की खोपड़ियाँ स्थापित थीं। इसी आश्रम के पास ठाकुर जी द्वारा जो वट, पीपल, अशोक, आँवला और बेल के पेड़ लगाए गए थे, वे पंचवटी के नाम से प्रसिद्ध है।

इस समय तो वर्तमान है, केवल पीपल का पेड़। ठाकुरजी की ध्यान-साधना की केंद्रस्थली पंचवटी, आश्रम का एकमात्र अवशेष।

परमहंस जी रसिक साधक भी थे। इस रूप में वे अपने को राधा के रूप में अंतर्भूत कर प्रियतम कृष्ण की अराधना किया करते थे। फलस्वरूप, उनका वक्षस्थल

भी उमड़ पड़ा था और नारीसुलभ गुण भी। ऐसी साधना के काल में वे नारीवस्त्र ही धारण किया करते थे।

श्री रामकृष्ण की आध्यात्मिक साधना और सिद्धि में यह महासत्य जीवंत हो उठा कि जिस प्रकार भिन्न-भिन्न नदियाँ सरल या टेढ़े-मेढ़े रास्तों का अवलंबन कर अंत में महासागर में जाकर मिल जाती हैं, उसी प्रकार रुचि की विभिन्नता के कारण भिन्न-भिन्न मतों एवं पंथों का अवलंबन करने पर भी मानवगण अंत में अनंत सागरसदृश परमात्मरूपी श्री भगवान् को ही प्राप्त होते हैं। विश्वकवि रवींद्रनाथ भी उनके प्रति अर्घ्य-निवेदन करते हुए गाते हैं :

*‘बहु साधकेर बहु साधना घारा ।*

*धेयाने तोमार मिलित होये धे तारा ।’*

*तोमार जीवने असीमेर लीलापथे ॥*

‘अर्थात् विभिन्न साधकों की विभिन्न साधनाएँ तुम्हारे मधुर ध्यान में विभिन्नत्व खोकर मिल गईं।’ पूत सलिला भागीरथी के पूर्वी तट पर अवस्थित यह दक्षिणेश्वर कला और संस्कृति का कैसा विहंगम संगम है? इस पवित्र धाम में प्रकृति, श्रद्धा, भक्ति, लोकविश्वास, वास्तुकला, पावनता और सुंदरता सब साकार और चरितार्थ होती दीखती है।

इस तीर्थ का प्रमुख आकर्षण हैभाल पर गाढ़े सिंदूर से मंडित नारियाँ। शाालीन रंगीन साड़ियों में मधुर-सुरीला बंगला गीत गार्ती बंगमाताएँ। पारंपारिक वेशभूषा में उनके हाथों में कुंकुम, चंदन, फूल-माला और नैवेद्य से भरी थालियाँ। पीले व वासंती रंगों में बंगाल की लोकपरंपरा की पृष्ठभूमि चित्रित करती हुई विशिष्ट वेश-भूषा, भाषा-साहित्य, कला और पूजा-पद्धति को प्रदर्शित करती दिव्य दृश्यावलियाँ। दक्षिणेश्वर से बाहर निकलकर हमलोग गंगा के किनारे आते हैं। जानकारी मिलती है कि यहाँ से मात्र दो किलोमीटर दूर पर आद्यापीठ अवस्थित है। लेकिन, हमलोग वेलूरमठ के लिए लांचर पकड़ते हैं। गंगाजी के दूसरे किनारे पर 1898 ई. में स्वामी विवेकानंद ने वेलूरमठ को स्थापित किया है। गुलाबी पत्थरों से निर्मित इस मठ की स्थापत्यकला मन को मोह लेती है। पाषाण खंडों में कलात्मक ढंग से उत्कीर्ण षोडस पद्मपटल, कलशयुक्त स्तंभशिखर, कल्पवल्ली, स्वस्तिक आदि हिंदू कला के प्रतीक चिह्न बड़े ही आकर्षक लगते हैं।

मंदिर के प्रधान द्वार से ही भगवान रामकृष्ण परमहंस का दर्शन बड़ा ही प्रेरक लगता है। प्रतिमा इतनी सजीव है कि लगता है, अभी बोल पड़ेगी। भला परमहंस-सा व्यक्तित्व भी कभी मरता है? वे तो अमर हैं।

परमहंस की मुखाकृति पर छाई दिव्य आभा शांति और संयम का सद्भाव जगाती है। कुछ देर ध्यानस्थ होकर सम्मुख बैठ जाता हूँ। विनती करता हूँ‘प्रभो!



विवेकानंद को पुनः प्रकटाओ।' समग्र सभाकक्ष परम पावन, परम प्रेरक और मनोरम प्रतीत होता है। वहाँ से निकलकर धरातल पर मानो उतरता हूँ। तभी छोटे-छोटे मठ मंदिरों का दर्शन करता हुआ स्वामी विवेकानंद के आवास में प्रवेश करता हूँ। मठ के साथ ही इसका निर्माण भी सन् 1898 ई. में हुआ था। इसी स्थान पर सन् 1902 ई. में मात्र उन्तालीस वर्ष की अवस्था में स्वामी विवेकानंद ने अपने पार्थिव देह का त्याग किया था। उनकी दैनिक प्रयोग की सभी वस्तुएँ इस संग्रहालय में संरक्षित हैं। यहाँ आने पर प्रतीत होता है कि स्वामी विवेकानंद प्रत्यक्ष बैठे हुए हैं और हमें प्रेरणा प्रदान कर रहे हैं। अनायास ध्यान में डूब जाता हूँ। प्रार्थना करने लगता हूँ : 'हे प्रभो! राष्ट्रधर्म का पथ आलोकित करने और हिंदू धर्म का शंखनाद कर मानवता का परित्राण करने हेतु तुम फिर आओ! जगज्जननी भारत माँ के वर्चस्व को सकल विश्व में स्थापित करो! नैतिकता और आध्यात्मिकता के आलोक में सकल विश्व का मंगल हो!'

## सांप्रदायिकता बनाम भारतीयता

के. मोहनन पिल्लै\*

वैश्वीकरण के पूर्व और बाद में भारत जैसे विकासशील देशों के हर क्षेत्र में ताकतवर साम्राज्यवादियों का हस्तक्षेप सर्वविदित है। इस संदर्भ में भारत की एक बड़ी भीषणता यह है कि यहाँ की धर्म निरपेक्षता पर देश की बाहरी एवं भीतरी शक्तियाँ दरारें पैदा कर रही हैं। नव औपनिवेशिक भारतीय संस्कृति के विभिन्न सांप्रदायिकवादों से बनाई गई कपट भारतीयता (Indianness) पर विचार करना लाजिमी है। बनावट हिंदुत्ववादों को भारतीयता कहकर प्रचार करनेवाले कपट हिंदुओं को पहचानने का अब सही संदर्भ है। सांप्रदायिकता बनाम भारतीयता का विकृत रूप भी यही है। भारत के भूतपूर्व प्रधानमंत्री श्री अटल बिहारी वाजपेयी ने सन् 2004 की लोकसभा के चुनाव के बाद 'भाजपा' की पराजय के संदर्भ में कहा कि हिंदुत्व और भारतीयता दोनों एक ही है। [www.expressindia.com and its allied websites]। इस पर देश-विदेश में बहुत बहस हुई।

सांप्रदायिकता बनाम भारतीयता की फरेबी बातें बहुचर्चित विषय हैं। इंडोलॉजी के विशेष-विश्लेषणात्मक अध्ययन से भारतीयता का असली रूप विदित होगा। तमाम भारतीय साहित्य में भारतीयता से संबंधित भिन्न-भिन्न विचार-विश्लेषण उपलब्ध हैं, जिनमें कुछ स्वयं लेखकीय भावनाएँ हैं, कुछ सामाजिक दायरे से इसको ग्रहण करने की रीतियाँ हैं और कुछ सैद्धांतिक एवं सांस्कृतिक अध्ययन की दिशाएँ हैं। और अब भारतीयता का ग्लोबीकृत कुरूपताएँ भी विमर्श-योग्य हैं। भारतीयता का सामान्य अर्थ है भारतीय जीवन-रीतियाँ, जिनमें भारत के वर्ग, वर्ण, भाषा, संप्रदाय एवं सामाजिक परिस्थितियों की समग्र चेतना है। Indianess in nothing but depiction of Indian Culture. Thus, Indianess is the sum total of cultural patterns of Indian deep rooted ideas and ideals which form the mind of India.

\* डॉ. के. मोहनन पिल्लै, असोसिएट प्रोफेसर, हिंदी विभाग, मार अनेषियस कॉलेज, कोतमंगलम, एरनाकुलम, केरल 686666; ई-मेल : pillai.kmohaana@gmail.com

भारतीयता का पूरा विश्लेषण करना है तो भारत के एक सौ दस करोड़ लोगों के जीवन के तमाम पक्षों का अध्ययन करना पड़ेगा। अतएव कुछ राजनीतिक दलों के अधिनायकत्व बन जाने का प्रभुसत्ता नहीं है भारतीयता। हिंदुओं के धर्मग्रंथ कहे जानेवाले वेद-वेदांतों में भी हिंदुत्व का उल्लेख नहीं है। आज से पाँच हजार साल पहले लिखे गए ऐसे वाङ्मयों को लेकर अब भी भारतीयता की नई-नई व्याख्याएँ देने का प्रयास व्यर्थ है। हिंदुत्व मंत्र से भारत देश के विकास का सपना देखना भारतीय राजनीति का अपचय है। इक्कीसवीं सदी के प्रथम दशक बीत जाते ही भारतीय नागरिकों को भारतीयता की ऐसी व्याख्या से बेवकूफ बनानेवाले सत्ताधारियों के खिलाफ विचार-विमर्श होना आवश्यक है। 'मेरा भारत महान' या 'मैं भारतीय हूँ' जैसे नारे लगाने से या माध्यमों में देश की भावात्मक एकता बढ़ाने के उद्देश्य से करोड़ों रुपए खर्च कर देनेवाले विज्ञापनों से क्या भारतीयता का भाव बढ़ेगा? बढ़ते रहे हैं भारत में क्षेत्रवाद, कौमवाद, जातिवाद, भाषावाद आदि। इसके साथ वैश्वीकरण से तथा नई औपनिवेशिक सभ्यता से सांस्कृतिक मूल्यों में यूरोपीयता और अमेरिकीयता ने कब्जा डाला है। भारत की तमाम भाषाओं एवं बोलियों से भारतीयता का भाव नष्ट हो रहा है। भारतीयता हमारे साहित्य, भाषा और दर्शनों में विलीन सौंदर्यशास्त्रीय संकल्प है। इसमें इस देश की जनसंस्कृति की रेखा, रंग स्वर एवं राग का तालमेल दर्शनीय है। भारतीयता में भारत के हजारों वर्षों के सांस्कृतिक परिदृश्य और यथार्थ भारतीय जीवन को परखना आवश्यक है। पूरी दुनिया में, विशेषतः पश्चिमी जगत में, समूचे स्तर पर च्युति होते समय में भी भारत की मूलभूत जीवनधाराएँ अपसंस्कृति एवं निरर्थकताबोध से दूर रही हैं। दुनिया में सब कहीं व्यवस्थाओं का सर्वनाश हो रहा है। इस अवसर पर भारत की जीवन-व्यवस्थाओं का बाहरी आक्रमण से हास तो होता है फिर भी वैश्वीकृत सांस्कृतिक विस्फोट भयानक रूप से नहीं होता है।

दरअसल भारतीयता का मतलब भारतीयकरण है। भारतीयता हिंदुत्ववाद का विकल्प नहीं है। 'हिंद स्वराज' का अर्थ हिंदू स्वराज नहीं है। 'हिंद' से 'हिंदुस्तान' और संविधान में 'हिंदुस्तान' या 'हिंद' की बजाय 'भारत' शब्द स्वीकार किया गया। ऐसे भारत की देशीय चेतना की नई अवधारणा है भारतीयता। इस अवधारणा में विच्छिन्नता या विभेदकता देश की भीतरी शक्तियों से होना समन्वयवादिता नहीं है। यह धार्मिक एवं आध्यात्मिक विचारधाराओं का एकीकृत रूप है। इसलिए धर्मनिरपेक्ष समाज का नियंत्रण कुछ सामाजिक नीतियों के अनुसार चलता है। इन्हीं नीतियों तथा जीवन-सिद्धांतों का आविष्कार समय की आवश्यकता के अनुसार किया जाता है। भारत की कपट राजनीति यह है कि ऐसे सिद्धांतों की व्याख्या हर दल अपने-अपने स्वार्थ-सिद्धि के अनुसार करता है। भारतीयता सुनते ही एक वैचारिक दकियानूसी का संवेदनशनील अभिप्राय उभर आना सहज है। क्योंकि बुद्ध, महावीर, शंकर आदि

स्वदेशी विद्वानों की विचारधाराएँ और यहाँ पर आए विदेशी सिद्धांत भारतीयता का हिस्सा बन चुके हैं। इसलिए भारतीयता हमारे देश का राष्ट्रीय दृष्टिकोण है। इसमें विभिन्न भाषाई संस्कृतियों और जीवन-रीतियों का सामंजस्य है। अतः भारतीयता को पहचानने का और एक आयाम है कि यहाँ की भाषाओं में अखिल भारत की बोलियों के शब्दों का आपसी उपयोग कराना। लिपि जो भी हो, भाषाओं के शब्द-भंडार में सभी भारतीय भाषाओं के शब्दों को ग्रहण करें, जैसे अंग्रेजी भाषा अब कर रही है। अंग्रेजी की तरह हिंदी फारसी, उर्दू, तुर्की आदि के शब्दों को अपनाती है, तो भी भारत की अन्य भाषाओं के शब्दों को हिंदी नहीं अपनाती है। हिंदी जब विशाल भाव से भारत की अन्य भाषाओं के शब्दों को स्वीकार करे तब यह भाषा भारतीयता के विकास में सहयोग देगी। इससे भारतीय भाषाओं के माध्यम से भारत के विभिन्न प्रांतों को आपस में जोड़ने की सुविधा मिलेगी। भाषा की सिकुड़ी हुई मानसिकता से बाहर आना ही भारतीयता को कायम रखने का पहला ध्येय है। आंचलिक भाषाओं और उनकी विभिन्न बोलियों को विकसित करना, उन्हें भी साहित्य की मुख्यधारा में प्रतिष्ठित करना तभी राष्ट्रीय दृष्टिकोण का विकास संभव होगा। उदाहरण के लिए मलयालम भाषा में हिंदुस्तानी भाषा के कई शब्द प्रचलित हैं। लेकिन हिंदी जैसी भाषाओं में दक्षिण के शब्दों का उपयोग बहुत कम है। अब भी आर्य-द्रविड़ परिवार जैसे भेद-भाव प्रबल रूप से प्रचलित है। यह भी नहीं, अब की हालत है कि भारतीय भाषाओं को पूर्ण रूप से छोड़कर विदेशी संस्कृति को कला एवं साहित्य में ढूँढने की प्रक्रिया जाने-अनजाने हो रही है। हिंदी प्रदेश में ही हिंदी के विरुद्ध आजकल आवाजें बुलंद हो रही हैं तो अखिल भारतीय दृष्टिकोण को बढ़ावा देना आसान कार्य नहीं है।

क्षेत्रवाद, जातिवाद भाषा की सनक आदि में स्वतंत्रता प्राप्ति के पहले की जनता क्या सोचती थी? वही उत्सर्ग और समर्पण का भाव बाद की जनता में क्यों नहीं होता है? इसको परखना भी भारतीयता की पहचान के लिए जरूरी है। पत्र-पत्रिकाएँ तथा इलेक्ट्रॉनिक माध्यम इसमें बहुत कार्य कर रहे हैं। भारतीयता को एक धर्म निरपेक्ष दायरे में संरक्षित रखने के लिए धार्मिक औपनिवेशिक दुर्मूर्तियों का उच्चाटन करना है। भारतीयता को बुलंद करने की आवश्यकता है; साम्राज्यवाद के विरोध में राष्ट्रवादी आंदोलनों को शक्ति देना है। पहले यह राष्ट्रीयता की भावना के रूप में पनपी तो अब वैश्वीकरण के विविध दबावों के सामने अखिल भारतीय अवधारणा होनी चाहिए, नहीं तो हमें एक नई सांस्कृतिक भूमि की तलाश करनी पड़ेगी। वैश्वीकरण के कारण स्वतंत्र भारत की भोगलिप्ता बढ़ गई। स्वतंत्र भारत भारतीयता को छोड़कर पाश्चात्य सभ्यता को स्वीकार करता है। फलतः एक भयभीत भारतीयता का भाव सब कहीं फैल रहा है। यूरोपीय आधुनिकता की नकल करनेवाली भौतिकवादी भारतीयता को भी देखा जा सकता है। वामपंथी विचारधाराओं को

धार्मिक निरपेक्षता के लिए अधिक उपयुक्त कराना है। सन् 1992 की बाबरी मस्जिद की घटना एवं सन् 2002 की गुजरात की तथा 2008 की उड़िया की घटना यहाँ विचारणीय है।

भारतीयता का असली रूप भारत के नवोत्थान काल से शुरू हुआ। नवोत्थान से जो परिवर्तन भारतीय जीवन में हुआ था वह भी वास्तविकता को छिपाकर देनेवाला कुछ प्रचार मात्र था। स्वामी विवेकानंद, दयानंद सरस्वती, राजा राममोहन राय जैसे उच्चवर्ण के महारथियों के विचार भारतीयता को कायम रखने के लिए कहाँ तक मदद देने लायक हैं, इस पर भी विचार-विमर्श आवश्यक है। हिंदुत्व या किसी भी सांप्रदायिक उपनिवेशों को रोकना संपूर्ण भारतीय जनता को सामान्य जीवन बिताने की नीति प्राप्त कराना तभी भारतीयता की भावना दृढ़ बनी रहेगी। राजा राममोहन राय ने वेदांत में प्रतिपादित जीवन-दर्शन के प्रचारणार्थ ब्रह्मसमाज की स्थापना की। इसके जरिए उन्होंने आधुनिक भारत को जागरण का जो रास्ता दिखाया था वह महज अंग्रेजियत से रिहाई पाना नहीं था, प्रत्युत् भारत की भीतरी अपसंस्कृति को सुसंस्कृत बनाना था। लेकिन अब उनके विचार और ब्रह्मसमाज किसी-न-किसी विशेष सांप्रदायिकता के नाम पर चिह्नित किए जा रहे हैं। रवीन्द्रनाथ ठाकुर, गाँधीजी, योगी अरविंद, परमहंस, विवेकानंद आदि के दर्शनों को भारतीयता के वास्ते लेना चाहिए न कि सांप्रदायिक हिंदुत्व के वास्ते। क्योंकि उन्होंने वेदांत से प्राप्त अंतर्दृष्टि से मानव-चेतना का संस्कार और परिष्कार करने का परिश्रम किया था। अतः कपट भारतीयता के नाम पर इन्हीं विचारकों के प्राणवान सिद्धांतों पर कीचड़ डालना उचित कार्य नहीं है। उन्होंने 'गीता' को जीवन का आदर्श बनाया था और अहिंसा को जीवन में मूर्तिमान किया था। लेकिन जनतंत्री देश में सन् 1992 से अब तक हुई घटनाएँ उत्तर आधुनिक भारतीयता का काला मुख दिखाती हैं। जनतंत्र को सहमति-असहमति दोनों के संतुलन से आगे ले जाने की पराजय ही ऐसी घटनाएँ दिखाती हैं। आजादी पाने के बाद से अब तक हुए तमाम विकास के बावजूद ऐसा प्रतीत होता है कि देश में पर्याप्त विकास कभी न होगा। शताब्दियों से भारत के सांस्कृतिक स्थलों पर रुग्ण मानसिकता पैठ रही है। भारतीयता में भी एक आहत सभ्यता मंडरा रही है।

भारत को भारतीय बहुत कम जानते हैं। वैसे प्रवासी भारतीय भारतीयता पर प्रवासी होकर इज्जत पाते हैं। प्रवासी भारतीयों की भारतीयता पर विचार करने के लिए भारतीय प्रवासी नई पीढ़ी को समझना आवश्यक है। वे भारतीयता को पुरस्कर्ता के रूप में देखना चाहते हैं। भारतीय उद्योग, व्यवसाय, विज्ञान, चिकित्सा आदि क्षेत्रों में यश और धन देकर वे भारत देश को दुनिया के शीर्षस्थ में रखना चाहते हैं।

भारतीयता को भी एक थोथा शब्द न बन चुकना है तो भारतीय मुहावरों में सोचने की ताकत बढ़ाना चाहिए। समाजवादी समाज की कामना, जनतंत्र की स्वायत्त शासन-व्यवस्था का सदुपयोग, सेक्यूलरवाद की प्रतिबद्धता और मिश्रित अर्थ व्यवस्था

को गति देना आदि इस वैश्वीकरण के समय, आर्थिक सुधार के समय, उदारवाद के अवसर पर भारतीयकरण को गति देनेवाली प्रक्रियाएँ हैं। ऐसे लक्ष्यों की प्राप्ति के लिए प्रयत्नशील भारतीयता की व्याख्या गलत रूप में हमारे बुजुर्ग राजनीतिक करते हैं तो यह उनके सांप्रदायिक संघर्ष पैदा करने का स्वार्थी लक्ष्य है। भारतीयता की मूल भावना सत्ता भोगने की स्वतंत्रता की कामना नहीं है वरन् आत्मा एवं आस्था में स्वतंत्रता पाना है जिसमें सांप्रदायिक संकीर्णता या जातीय कट्टरता नहीं है। महज यही भारतीयता का उद्देश्य है

*“हम कौन थे क्या हो गए हैं और क्या होंगे अभी  
आओ विचारें आज मिलकर ये समस्याएँ सभी।”*

*(‘भारत-भारती’मैथिलीशरण गुप्त)*

## सप्तकों की भूमिकाएँ

नित्यानंद श्रीवास्तव\*

15 अगस्त, 1947 के तुरंत बाद से ही देश का संवेदनशील मन 'स्वतंत्रता' को नए सिरे से प्रश्नांकित करता रहा है। 'आधी-अधूरी आजादी' और 'सत्ता का हस्तांतरण' जैसे पद ज्ञान के लगभग सभी अनुशासनों में समान चिंता के साथ प्रयुक्त होते रहते हैं। कुछ विशिष्ट अवसरों पर यह चिंता उद्वेग के साथ प्रकट हुई है; जैसे यदि हम आपात्काल की बात करें या इधर अन्ना हजारे और स्वामी रामदेव के आंदोलनों को आत्मसात करें तो कई बार यह लगता है कि 15 अगस्त, 1947 को प्राप्त की गई वह उपलब्धि हमें एक छोटे बाड़े की कैद की तुलना में अपेक्षाकृत एक बड़े बाड़े की कैद में खुला छोड़ देने से अधिक कुछ भी नहीं थी। एक ऐसा बड़ा 'बाड़ा' जिसके मालिक 'इंडियन्स डैट इज भारतीय' होंगे पर जिसके कायदे-कानून यहाँ तक कि सारे 'तंत्र' औपनिवेशिक ढाँचे पर आधारित होंगे। दुर्भाग्य से यही अभिशप्त स्थिति विद्यमान है जिसमें हम जीने के लिए और आजादी की दूसरी लड़ाई लड़ने के लिए बाध्य हैं। जाहिर है, इस पर अनेक कोणों से चर्चा हो सकती है और खतरा यह है कि यदि चर्चा में गंभीरता कम हुई तो केंद्र में सिर्फ 'राजनीति' रह सकती है।

थोड़ी कम गंभीरता से ही शुरुआत करें तो 'राजनीति' एक अंतहीन जायकेदार बहस का दूसरा नाम है। सबके अपने-अपने स्वार्थ हैं और अपने-अपने चौखटे हैं। एक साहित्यकार, एक सृजनशील मन इस स्वार्थ और चौखटे के प्रभावी होने के बावजूद और कई बार उनके कारण भी 'स्वतंत्रता' के मूलभूत प्रश्न पर सोचता है। उसकी यह सोच ही उसे एक वृहत्तर परिप्रेक्ष्य से जोड़ती है जहाँ वह परंपरा और वर्तमान की चुनौतियों से एक साथ संघर्ष करता हुआ, सृजन-संदर्भों से जुड़ता है। आजादी के बाद आरंभिक दो-तीन दशकों में हिंदी के रचनाकारों में यह जद्दोजहद खूब दिखाई पड़ती है।

\* प्रवक्ता हिंदी विभाग, सी.जी.एन. पी.जी. कॉलेज, गोला गोकर्णनाथ खीरी।

अज्ञेय ने चौथा सप्तक की भूमिका में इस द्वंद्व को रेखांकित किया है, कुछ जरूरी सवाल उठाए हैं और समाधान के सूत्रों को खोजने का प्रयास भी किया है। इनमें से कुछ सवाल तो आज भी प्रासंगिक हैं यद्यपि संभावना इस बात की भी है कि अनेक आग्रही रचनाकारों को ये सवाल, सवाल जैसे ही न लगें। वैसे, जागता तो दुखिया दास कबीर ही है, भले ही उसका जागना संसार को अपनी नींद में खलल जैसा लगे। बहरहाल अज्ञेय रेखांकित करते हैं, "...लेकिन जो बात चिंत्य है वह यह कि कवि की राजनीतिक चेतना के साथ राजनीतिक मतवाद का आरोप कहाँ तक उचित है? क्या कविता को अनिवार्यतया किसी राजनीतिक संदेश की वाहिका होना चाहिए? और जो कविता संकल्पपूर्वक किसी राजनीतिक मत का प्रतिपादन करने नहीं चलती वह क्या इसीलिए अनिवार्यतया घटिया हो जाएगी? क्या काव्य केवल एक साधन है?"<sup>1</sup> ये सवाल जिन समय-संदर्भों में उठाए गए हैं, वे समय-संदर्भ गहरी पड़ताल की अपेक्षा रखते हैं।

राजनीतिक मतवाद का स्थानीय या वैश्विक आग्रह कवि-चेतना को बड़ी आसानी से अपनी गिरफ्त में ले लेता है। दक्षिण, वाम, तीसरी दुनिया, आधी दुनिया जैसे पद विशेष प्रकार के राजनीतिक एवं सामाजिक प्रत्ययों की देन हैं। इनके प्रक्षेपण केंद्रों की पहचान और उनसे सावधानी कविता और समालोचना की अनिवार्य आवश्यकता है। राजनीति और विचारधारा के नाम पर साहित्य के वर्गीकरण और वर्गांतरण के प्रयासों के खतरों और दुष्परिणामों का एक उदाहरण शुक्रदेव सिंह और अज्ञेय की इस बातचीत में देखें—अज्ञेय जी ने एक बड़ी विचित्र बात बताई। कहा, जब मैं 'तार सप्तक' निकाल रहा था उस समय की और उसके बाद की कम्युनिस्ट पार्टी के हाई कमान की ओर से कुछ उभरते हुए साहित्यकारों को यह आदेश दिया गया था कि वे साहित्य में मुझे समाप्त करें।...मेरे निकट रहने वाले मित्रों में प्रभाकर माचवे, नेमिचंद जैन, मुक्तिबोध तमाम लोग प्रगतिशील विचारधारा के थे। उन सबसे ऊपर-ऊपर आत्मीयता भी थी लेकिन मेरा सबसे निकट का संबंध, सबसे घनिष्ठ और प्रिय भाव कवि भारतभूषण अग्रवाल के साथ था।...उन्होंने किसी सुंदर क्षण में सी.पी. आई. के इस संकल्प की बात मुझे बताई, रहस्य खोल दिया और यह भी बताया कि हमने पार्टी ऑफिस को यह रिपोर्ट भेज दी है कि हमने अज्ञेय को अकेला कर दिया है लेकिन खेद है कि हम साहित्य में उन्हें समाप्त नहीं कर पाए।"<sup>2</sup> प्रगतिशील लेखक संघ के गठन के बाद अगले बीस-पच्चीस वर्षों में मार्क्सवाद का वर्गवाद साहित्य में शत्रुतावाद की सीमा तक विस्तार पा गया। रचनाधर्मिता और समालोचना के इस दृष्टिबाधित दौर में अज्ञेय ने सप्तकों के प्रकाशन से साहित्य में सकारात्मक प्रवृत्तियों का प्रवर्तन किया। राजनीतिक चेतना में मतवाद के आरोपण को दरकिनार करते हुए उन्होंने 'स्वतंत्रता' के व्यापक मूल्य की पहचान बतायी और चौथा सप्तक की भूमिका

में लिखा, “...संकलित कवियों के राजनीतिक विचारों के होते हुए भी एक स्तर पर वे एक सामान्य अनुभव की बिरादरी में आ जाते हैं तो यह कथन अनुचित न होगा और वह सामान्य अनुभव है एक स्वातंत्र्य का अनुभव।”<sup>3</sup>

माक्सवाद, राजनीतिवाद और प्रगतिशीलता आदिवादों के घालमेल का परिणाम एकतरफा नहीं रहा। शुरुआत के कुछ साथी तो अन्यमनस्क हो साथ छोड़ गए और कुछ घोषित तौर पर हटा दिए गए। रामविलास शर्मा और राहुल सांकृत्यायन जैसे कुछ बड़े नाम तो राह में पड़े रोड़े की तरह खटकने लगे और भारत भूषण अग्रवाल जैसे लोगों ने पार्टी की सदस्यता से ही इस्तीफा दे दिया। चौथा सप्तक की भूमिका में अज्ञेय ने लिखा, “...उसके बाद कैसे बढ़ती हुई वैचारिक संकीर्णता और असहिष्णुता के कारण प्रायः सभी बड़े साहित्यकार एक-एक करके निकाल दिए गए या स्वयं हट गए और इससे कैसे आंदोलन ही मृतप्रायः हो गया, ये बातें समकालीन साहित्य के इतिहास का अंग हो गई हैं।”<sup>4</sup> समकालीन साहित्य का इतिहास बहुत पुराना नहीं है और परिदृश्य से इतना तो स्पष्ट है कि मतवादी साहित्य और साहित्यकार की ताब चली गई है यद्यपि ऐंठन अभी थोड़ी बहुत बाकी है।

‘निज कवित्त केहि लाग न नीका’ की तर्ज पर तत्कालीन और समकालीन रचना और आलोचना में ‘अहं’ का विस्फोट ‘ब्रह्म’ की तरह व्याप्त है। बौद्धिकता बौद्धिक अराजकता के लिए घूँघट का काम कर रही थी। अज्ञेय ने टिप्पणी की, “आज की कविता का बहुत बड़ा और शायद सबसे बड़ा दोष यह है कि उस पर एक ‘मैं’ छा गया है, वह भी एक अपरीक्षित और अविस्मृत ‘मैं’। आज की कविता बहुत बोलती है, जबकि कविता का काम बोलना है ही नहीं।”<sup>5</sup> इस समस्या का एक कारण तो यह है कि देश अभी हाल ही में स्वतंत्र हुआ था और देश के निवासियों को जिस बात की सबसे अधिक प्राप्ति हुई, वह थी ‘अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता’। इसी संदर्भ में दूसरी बात यह है कि नेहरू जी की शुरुआती सरकार बाईं ओर थोड़ा ज्यादा लड़खड़ा रही थी इसलिए अपने मतवादी साहित्यकार सिर के बल चलने के अभ्यासी बन रहे थे।

‘अहं’ सर्जकमन और भोक्तामन दोनों को विकृत करता है। यह बात इस समय के अधिकांश कवियों को छोड़कर हिंदी के प्रायः सभी कवियों को पता है। कबीर बड़ी विनम्रता से ‘मसि कागद छूओ नहीं’ की बात करते हैं तो तुलसी अपनी कविता को ‘बाल-विनय’ की संज्ञा देते हैं तथा अपने पूर्ववर्ती, वर्तमान के एवं भविष्य में होने वाले राम-कथा गायकों को सश्रद्ध प्रणाम करते हैं। रीतिकाल के कवियों को भी कवित्त और राधा-कृष्ण के सुमिरन में प्राथमिकता का बखूबी पता था। स्वातंत्र्य संघर्ष के दिनों में पूरे भारतवर्ष में एक तरफ तो बौद्धिक दासता से, हीनताबोध की ग्रंथि से एवं आयातित भाव-बोध से आक्रांत व्यक्तियों का वर्ग तेजी से उभर रहा था तो दूसरी ओर आर्य समाज एवं रामकृष्ण मिशन और इस तरह के अनेक स्वातंत्र्य प्रिय जनांदोलन भारतीय मेधा की अनेक आयामों में अभिव्यक्ति का संयोजन कर रहे थे। इस द्वंद्व को

भारतेंदु मंडल के लेखकों में रेखांकित किया जा सकता है। अपने समय, समाज एवं वैश्विक परिदृश्य के आत्मसातीकरण की प्रक्रिया का अनुभव इस दौर के साहित्यकारों में बहुत साफ है। फिर भी, कम-से-कम छायावाद तक सर्जक ‘मैं’ अपने ही साहित्य पर कम-से-कम छाया हावी है।

गोस्वामी तुलसीदास ने इस ‘मैं’ की खूब पहचान की है। रामचरितमानस का आरंभ में ‘स्वातःसुखाय’ करते हैं और ‘ग्रंथ की रचना करते हुए अंतिम श्लोकों में कहते हैं

*यत्पूर्व प्रभुणा कृतं सुकविना श्रीशम्भुना दुर्गमं  
श्रीमद्रामपदाब्जभक्तिमनिशं प्राप्त्यै तु रामायणम् ।  
मत्वा तद्रघुनाथनामनिरतं स्वान्तस्तमः शान्तये ।  
भाषाबद्धमिदंचकार तुलसी दासस्तथामानसम् ॥ उत्तरकांड ॥*

(श्रेष्ठ कवि भगवान श्रीशंकर जी ने जिस दुर्गम मानस-रामायण की, श्रीराम जी के चरण कमलों में नित्य निरंतर (अनन्य) भक्ति प्राप्त होने के लिए रचना की थी, उस मानस रामायण को श्री रघुनाथजी के नाम में निरत मानकर अपने अंतःकरण के अंधकार को मिटाने के लिए तुलसीदास ने इस ‘मानस’ के रूप में भाषाबद्ध किया।<sup>6</sup>

‘स्वातः सुखाय’ और ‘स्वातस्तमः शान्तये’ ये दोनों पद रचनाकार के ‘मैं’ की तलाश के पद हैं। जिन्होंने रामचरितमानस ठीक से नहीं पढ़ी से ‘स्वातः सुखाय’ के कारण गड़बड़ी कर जाते हैं। तार सप्तक में अपनी संकलित कविताओं के वक्तव्य में अज्ञेय ने इस ‘स्वातःसुखाय’ से संवाद में जल्दबाजी की है। वे लिखते हैं, “मैं स्वातः सुखाय नहीं लिखता। कोई भी कवि केवल ‘स्वातः सुखाय’ लिखता है या लिख सकता है, यह स्वीकार करने में मैंने अपने को सदा असमर्थ पाया है। अन्य मानवों की भाँति अहं मुझमें भी मुखर है और आत्माभिव्यक्ति का महत्त्व मेरे लिए भी किसी से कम नहीं है पर क्या आत्माभिव्यक्ति अपने आप में संपूर्ण है। अपनी अभिव्यक्ति-किंतु किस पर अभिव्यक्ति। इसीलिए ‘अभिव्यक्ति’ में एक पाठक या श्रोता मैं अनिवार्य मानता हूँ और इसके परिणामस्वरूप जो दायित्व लेखक या कवि या कलाकार पर आता है उससे कोई निस्तार मुझे नहीं दीखा।”<sup>7</sup> यह जल्दबाजी अन्वेषण की है और कवि का, उसकी कविता का विकास होता रहता है। ‘अपरीक्षित’ और ‘अविस्मृत’ ‘मैं’ की पहचान अज्ञेय को स्वयं बाद में हुई, तभी ‘असाध्यवीणा’ जैसी श्रेष्ठ कविता हिंदी जगत को मिली। और रही बात पाठक और श्रोता की तो तुलसीदास ने अपने रामचरितमानस में वक्ता-श्रोता की खूब चर्चा की है।

आत्म, स्व, मैं, अहं ये सब एक ही अर्थ के पद हैं। इनसे ‘निस्तार’ पाना कवि के लिए भी कठिन है और उस पाठक या श्रोता के लिए भी जिसकी तलाश उस कवि को है। कवि की यह कठिनाई बदलते युग-संदर्भों के कारण बढ़ती जाती है। यानी



युग-संदर्भ जितनी तेजी से बदलते हैं उतनी ही तेजी से कवि की कठिनाई बढ़ती जाती है और तब पाठक या श्रोता और समीक्षक की भी।

इस 'मैं' के परीक्षण और विसर्जन की समस्या का एक हल 'साधारणीकरण' है। लेकिन यह साधारणीकरण भी आज के कवि के लिए 'कठिन' है। प्रगति-प्रयोग-नई आदि कवितावादियों के लिए 'कठिनाई' एक प्रचलित पद-विन्यास है। बहरहाल, यह कठिनाई क्यों है, इसे अज्ञेय से सुनिए, "आधुनिक ज्ञान-विज्ञान की समूची प्रगति और प्रवृत्ति विशेषीकरण की है, इस बात को पूरी तरह समझकर ही अनुभव किया जा सकता है कि साधारणीकरण का काम कितना कठिनतर हो गया है समूचे ज्ञान-विज्ञान की विशेषीकरण की प्रवृत्ति को उल्लांघकर, उससे ऊपर उठकर, कवि को विभाजित सत्य को समूचा देखना और दिखाना है।"<sup>8</sup> साधारणीकरण में होने वाली मुख्य कठिनाई 'विशेषीकरण' और विभाजित सत्य को समूचा देखने दिखाने की है। पहले के कवियों के सामने अज्ञेय के हिसाब से यह कठिनाई नहीं थी। क्योंकि तब, "प्राचीनकाल में जब ज्ञान का क्षेत्र सीमित था और अधिक संहत था, जब कवि, वैज्ञानिक साहित्यिक आदि अलग-अलग बिल्ले अनावश्यक थे और जो पंडित या शिक्षित या सभी ज्ञानों का पारंगत नहीं तो परिचित था ही, साधारणीकरण की समस्या दूसरे प्रकार की थी।"<sup>9</sup> यहाँ इस बात को रेखांकित करना जरूरी है कि प्राचीन काल का कवि ज्ञान के क्षेत्र के सीमित और संहत होने के कारण उन सभी ज्ञानों से कम-से-कम परिचित तो था ही।

अज्ञेय पर जिन विचारों का प्रभाव स्वीकार किया जाता है उसमें जैन संप्रदाय और तदनुसार बुद्ध के विचारों का योग महत्वपूर्ण है। गौतम बुद्ध ज्ञान को परिभाषित करते हुए कहते हैं "शील से प्रक्षालित है प्रज्ञा (ज्ञान)। प्रज्ञा से प्रक्षालित है शील (आचार)। जहाँ शील है वहाँ प्रज्ञा है; जहाँ प्रज्ञा है, वहाँ शील है। शीलवान को प्रज्ञा (होती है), प्रज्ञावान को शील। किंतु शील लोक में प्रज्ञाओं का अगुआ कहा जाता है. ..।"<sup>10</sup> शब्द और कृति में अभेद शब्द में अर्थ की वास्तविक प्रतिपत्ति करता है। यह बात मर्मज्ञ साहित्यकार को पता है इसीलिए उसे सबसे पहले अपने अंदर का यह 'अंधकार या अपरीक्षित और अविसर्जित 'मैं' चिंतित करता है, चिंतनशील बनाता है। कहीं ऐसा तो नहीं कि हमारे युग के आधुनिक, नए, प्रगतिवादी, उत्तर-आधुनिक आदि-आदि वादी 'ज्ञान' को 'सूचना-केंद्रों' से प्राप्त कर रहे हों।

अज्ञेय जिस 'विशेषीकरण' की बात कह रहे हैं उस पर थोड़ा धैर्य से सोचा जाए तो हर युग के कवि के सामने (ज्ञान-विज्ञान के उसके सीमित दायरे में ही सही) यह समस्या रही है। इस समस्या से जूझने और निस्तार पाने में जिस प्रणाली ने उन प्राचीन कवियों की सहायता की है उसी प्रणाली ने उन्हें अपने समय में और आज छह-सात सौ वर्षों बाद भी प्रासंगिक और समकालीन बनाया है। वास्तव में समस्या यह है कि ज्ञान-विज्ञान के विशेषीकृत सूचना-केंद्रों से सूचनाएँ (ज्ञान नहीं) बड़ी तेजी से निरंतर

बदलती और प्रसारित होती रहती हैं। हिंदी का बहुपठित और बहुश्रुत कवि और समालोचक उनसे उतनी ही तेजी से अपना 'तालमेल' बिठा लेता है रागात्मक संबंधों को जोड़ने की नवीन प्रणालियों के आधार पर। लेकिन वह, उस अधिकांश 'मूढ़' जनता का क्या करे, जो पुराने पोथी-पतरों में ही उलझी रहती है।

लेकिन, अज्ञेय की चिंता अपनी जगह जायज है। विशेषीकरण की प्रवृत्ति से साधारणीकरण के लिए उन्होंने जो सिद्धांत दिया है, वह 'रागात्मक संबंधों को जोड़ने की नवीन प्रणाली है। इस नवीन प्रणाली की प्रक्रिया में कवि को साधारणीकरण के लिए 'विशेष' को उल्लांघना होता है, उससे ऊपर उठना होता है तब वह विभाजित सत्य (विशेष) को समूचा देख पाता है और दिखा पाता है। यह तो हुई अज्ञेय की बात। हमारे सामने एक प्राचीन कवि हैं तुलसीदास। तुलसीदास ने रामचरितमानस में अनेक स्थानों पर साहित्यशास्त्रीय सिद्धांत दिए हैं। तुलसीदास के सामने उनके अपने ज्ञान-विज्ञान के सीमित दायरे में ही सही 'राम-कथा' के कई विशेषीकृत संदर्भ थे। तुलसी की साधारणीकरण की प्रक्रिया क्या हैइसे देखें

मैं पुनिनिज गुर सन सुनी कथा सो सूकर खेत।  
समुझी नहीं तसि बालपन तब अति रहेउँ अचेत ॥30 क॥  
श्रोता बकता ज्ञान निधि कथा राम कै गूढ़।  
किमि समुझीं मैं जीव जड़ कलिमल ग्रसित विमूढ़ ॥30 ख॥  
तदपि कही गुर बारहिं बार। समुझि परी कछु मति अनुसार।  
भाषाबद्ध करवि मैं सोई। मोरे मन प्रबोध जेहिं होई ॥1॥  
जस कछु बुधि विवेक बल मेरे। तस कहि हउँ हरि के प्रैर।  
निज संदेह मोह भ्रम हरनी। करउँ कथा भव सरिता तरनी ॥2॥0

रामचरितमानस : बालकांड

प्राचीन काल का कवि साधारणीकरण के लिए 'विशेष' को उल्लांघने और उससे ऊपर उठने की बजाय बार-बार संवाद और आत्मसातीकरण पर जोर देता है। तब अपने विवेक और बुद्धि-बल में हृदय और हरि की प्रेरणा के संयोग से अभिव्यक्ति के लिए तत्पर होता है। अभिव्यक्ति भी इसीलिए कि उसके अपने संदेह, मोह और भ्रम का 'निस्तार' हो सके।

संवाद और आत्मसातीकरण के लिए एक बेहतर शब्द हैतादात्म्य। 'विशेष' से रागात्मक संबंध जोड़ने की नवीन प्रणाली में 'तादात्म्य' का अभाव है। यहाँ अज्ञेय से विनम्र असहमति प्रकट की जा सकती है। तादात्म्य के बिना 'अहं' का परीक्षण और विसर्जन संभव नहीं और तब साधारणीकरण की प्रक्रिया भी पूरी नहीं हो पाती। साधारणीकरण न हो पाने के कारण कवि की अनुभूति विशिष्ट ही बनी रह जाती है और विशिष्टता संप्रेषित नहीं हो पाती।



वास्तव में समस्या केवल भाव-ग्रहण की नहीं है। समस्या भाव के रूप-ग्रहण की भी है। जिन्हें 'भाव' शब्द पर आपत्ति हो वे उसकी जगह राग, वृत्ति, संवेदना और अनुभूति भी रख सकते हैं। कवियों और आलोचकों की ज्यादा चख-चख 'रूप-ग्रहण' की प्रक्रिया को लेकर है। अभिव्यक्ति की दशा में कविता 'रूप के शास्त्र' की प्रतीक्षा नहीं करती। महर्षि वाल्मीकि की शाप-वाणी वैदिक छंद-विधान से भिन्न सर्वथा नवीन छंद-विधान की सृष्टि है, यह तो स्वयं महर्षि वाल्मीकि को बाद में पता चला। जैसे कोई नदी पहली बार जल की तेज धारा के रूप में अपना रास्ता स्वयं बनाती चलती हैबाद में हम उसे 'नदी' की संज्ञा देते हैं वैसे ही भाव रूप-ग्रहण करते रहते हैं। जलधारा की गति नदी के रूप-आकार का सृजन करती हैउसी तरह 'संगीत' और 'लय' कविता के प्राण-तत्त्व हैं जो कविता के रूप-निर्धारण की प्राथमिक शर्त है। छांदसिकता और मुक्त-छंद ये सब तो 'रूप' की द्वितीयक कसौटी हैं। 'लय' और 'संगीत' वे तत्त्व हैं जो कविता को अन्य विधाओं से अलग करते हैं।

निराला ने जब मुक्त-छंद का प्रवर्तन किया उस समय उन्होंने इसमें 'आर्ट ऑफ रीडिंग' की बात की। यह मुक्त छंद हिंदी के जातीय छंद 'कवित्त' से निकला है, इसलिए इसमें लयात्मकता है। पंत् की स्थिति थोड़ी भिन्न है। अज्ञेय इस भिन्नता को सूत्रबद्ध करते हैं—“निस्संदेह सुमित्रानंदन पंत के साथ 'निराला' की तुलना से यह बात स्पष्ट हो जाएगी कि 'निराला' छंद की आधार-भित्ति हमेशा संगीत के सुर को ही मानते रहे और 'पंत' ने भाषा के स्वर को प्रधानता दी।”<sup>11</sup> छंद, संगीत का स्वर और लय ये तो कवियों के लिए परिचित संदर्भ है, लेकिन यह भाषा का स्वर क्या 'बला' है? लय, छंद और हिंदी भाषा से इसके रिश्तों पर बातचीत से पहले 'अज्ञेय' इससे क्या समझते हैं? यह देखिए, “बोलचाल की भाषा का आधार लेते हुए हम लोगों ने स्वभावतः बलाघात या स्वराघात का महत्त्व पहचाना जो कि लय का एक आधारभूत तत्त्व है। इससे पहले स्वर अथवा बलाघात की ऐसी चेतना नहीं थी, न शास्त्र में उसका विचार हुआ था।...श्रुति-संस्कार की विशेषताओं का उल्लेख में 'पंत' और 'निराला' के संदर्भ में कर चुका हूँ। यहाँ शायद यह जोड़ लेना भी उचित हो कि छायावाद के कवियों में 'पंत' ही अंग्रेजी रोमांटिक कविता से सबसे अधिक परिचित थे, उसकी विशेषताओं को भी उन्होंने बारीकी से पहचाना था और इससे स्वर की जो नई पहचान बनी थी उसका उन्होंने अपनी कविता में रचनात्मक उपयोग भी किया था।...स्वर और बलाघात के क्षेत्र में अंग्रेजी में जो नया चिंतन और नए प्रयोग हुए उससे भी इन कवियों के कुछ संस्कार मिले। जो आलोचक इस नई स्वर-चेतना को नहीं समझते थे, अथवा जो विदेश के प्रभाव से विकसित होने वाली पहचान के भी विरोधी थे, उन्होंने इन सब नई प्रवृत्तियों को 'पश्चिम की नकल' कहकर उसकी खिल्ली उड़ाई। पर नकल अपनी जगह थी, दृष्टि का उन्मीलन अपनी जगह।”<sup>12</sup>

संगीत और भाषा-विज्ञान का साधारण विद्यार्थी यह बता सकता है कि 'लय' का आधारभूत तत्त्व 'संगीत' है न कि बलाघात। वास्तव में अज्ञेय के आँगन के पार का द्वार पश्चिम की तरफ खुलता हैतो पश्चिमी शैली के भाषा-पंडितों ने एक सरलीकृत सिद्धांत प्रचलित किया कि वैदिक भाषा संगीतात्मक स्वर प्रधान है और हिंदी भाषा बलाघातात्मक स्वर प्रधान। ये निष्कर्ष गलत नहीं हैं लेकिन इस तथ्य की उपेक्षा कर जाते हैं कि हम जिसे 'हिंदी साहित्य' कहते हैं वह कई बोलियों/भाषाओं से रूपाकार ग्रहण करता है और जहाँ तक कविता की बात है तो उसमें 'लय' का आधारभूत तत्त्व संगीतात्मकता ही है। और जहाँ तक गद्य का सवाल है तो उसमें बलाघातात्मक स्वर की प्रधानता मानी जा सकती है। अज्ञेय यहाँ बोलचाल की भाषा के हवाले से बात तो करते हैं पर इस तथ्य की ओर ध्यान नहीं दे पाते कि अवधी, ब्रज, भोजपुरी, मैथिली, मगही आदि बोलियों/भाषाओं की मिठास और थोड़े आरोह-अवरोह वाली उच्चारण शैली का कारण बलाघात नहीं बल्कि संगीतात्मकता कला का सहज संस्कार है। खड़ी बोली हिंदी का साहित्यिक स्वरूप इन्हीं बोलियों/भाषाओं से जीवनीशक्ति प्राप्त करता है।

'लय' का आधारभूत तत्त्व संगीत है और संगीत का संबंध 'नाद' से है। आचार्य शुक्ल ने एक रोचक टिप्पणी की है—“नाद-सौंदर्य से कविता की आयु बढ़ती है। ताल-पत्र, भोजपत्र, कागज आदि का आश्रय छूट जाने पर भी वह बहुत दिनों तक लोगों की जिह्वा पर नाचती रहती है। बहुत-सी उक्तियों को लोग उनके अर्थ की रमणीयता इत्यादि की ओर ध्यान ले जाने का कष्ट उठाए बिना ही प्रसन्नचित्त रहने पर गुणगुनाया करते हैं। अतः नाद-सौंदर्य का योग भी कविता का पूर्ण स्वरूप खड़ा करने के लिए कुछ-कुछ आवश्यक होता है। इसे हम बिलकुल हटा नहीं सकते। जो अत्यानुप्रास को फालतू समझते हैं, वे छंद को पकड़े रहते हैं, जो छंद को भी फालतू समझते हैं, वे लय में लीन होने का प्रयास करते हैं। संस्कृत से संबंध रखने वाली बहुत-सी भाषाओं में नाद-सौंदर्य के समावेश के लिए बहुत अवकाश रहता है। अतः अंग्रेजी आदि अन्य भाषाओं की देखा-देखी, जिनमें इसके लिए कम जगह है, अपनी कविता को हम इस विशेषता से वंचित कैसे कर सकते हैं?”<sup>13</sup>

पचासोत्तरी से लेकर आज तक की मुक्तछंद छंदमुक्त और गद्य बनती हुई कविताएँ न केवल इस विशेषता से वंचित हैं बल्कि उस उन्मीलन से भी जो अज्ञेय को अभिप्रेत है। अज्ञेय के इस बलाघाती प्रयोग ने कवियों को 'निरा' गद्य लिखने को प्रेरित किया और समालोचकों को यह संबल दिया कि वे इस गद्य जैसी चीज को कविता कह सकें। इससे यह स्पष्ट हुआ कि दृष्टि का उन्मीलन हो जाने पर छंद की आधार-भित्ति के प्रश्न पर संगीत के स्वर और भाषा के स्वर में अंतर करने की योग्यता आ जाती है।

लेकिन दृष्टि का उन्मीलन तो पंत, अज्ञेय और ऐसे एकाध लोगों को छोड़कर बाकी अभ्यासियों का हुआ नहीं। अज्ञेय अपने समय के बड़े विचारक थे, अंजाम का अंदाजा उन्हें था, चौथा सप्तक की भूमिका में वे लिखते हैं “...इस लंबी अवधि में हिंदी में कविता प्रचुर मात्रा में लिखी गई है। सब अच्छी नहीं है, यह कहना किसी रहस्य का उद्घाटन करना नहीं है। और शायद अगर यह भी कहूँ कि प्रकाशित कविता का अधिकांश घटिया रहा है तो उसे पाठक एक अनावश्यक स्पष्टोक्ति भले ही मान लें, गलत नहीं कहेंगे। किसी भी युग के काव्य के बारे में ऐसा ही कहा जा सकता है।”<sup>14</sup>

अपने समय की कविता पर यह कठोर और निर्मम टिप्पणी है। बावजूद इसके कि जब अज्ञेय अपने समय के कवि को यह सलाह दे चुके हों कि, “लेकिन फिर भी नई कविता अगर इस काल की प्रतिनिधि और उत्तरदायी रचना-प्रवृत्ति है, और समकालीन वास्तविकता को ठीक-ठीक प्रतिबिंबित करना चाहती है, तो उसे स्वयं आगे बढ़कर यह त्रिगुण दायित्व ओढ़ लेना होगा। कृतिकार के रूप में नए कवि को साथ-साथ वकील और जज दोनों होना होगा। (और संपादक होने पर साथ-साथ अभियोक्ता भी!)”<sup>15</sup> अज्ञेय का यह सूत्र कवियों को खूब भाया। अनेक प्रतापी कवियों ने ‘त्रिगुण’ में एक गुण और मिलाया। वह गुण था एक अच्छे मैनेजर का गुण। राजनीति के गुरु-घंटाल जिस प्रकार ‘मैनेजमेंट गुरु’ बन जाते हैं उसी प्रकार समर्थ और उन्मीलित दृष्टि संपन्न समालोचकों की कमी अब नहीं रही। एक सफल मैनेजर समर्थ आलोचकों के लिए छोटे-मोटे इंतजाम करके अपनी कविता की सीमा उल्लंघित हुए विश्व के महान कवियों की श्रेणी में खड़े होने का प्रमाण-पत्र पा जाता है। अज्ञेय के सुझाव के साथ-साथ और उसके बाद हिंदी आलोचना की एक धारा नए प्रतिमानों को तलाशती हुई ‘अहो रूपं अहो ध्वनिः’ तक के गर्दभ-मर्दन स्वर तक जा पहुँची!

लेकिन इसमें दोष अज्ञेय का नहीं है। दोष उस दृष्टि और बोध का है जो संग्रह और त्याग के प्रश्न पर बहुत असावधान है। ‘आ नो भद्राः क्रतवो यन्तु विश्वतः’ की बात को हम ठीक से नहीं समझ सके। यही कारण है कि छायावादोत्तर कविता और आलोचना के अधिकांश बीज-शब्द ‘पड़िया’ (मृत) ही निकल गए। समस्या उच्च अध्ययन केंद्रों में ज्यादा है। तमाम शोध-कार्यक्रमों में आधुनिक, उत्तर-आधुनिक, विरचना आदि-आदि अनेक शब्द बिना परीक्षण के हिंदी जमात में टूँसे जाते रहे हैं। अनुवादजीवी मानसिकता ने फैशन के तौर पर यह सब जो स्वीकार किया है, उससे दिमागी गुलामी का एक नया दौर शुरू हुआ है। जिस प्रकार देश को आज आजादी की दूसरी लड़ाई की जरूरत है उसी तरह हिंदी साहित्य को भी अपनी जकड़न से मुक्त होने की जरूरत है।

सप्तकों के प्रकाशन से ‘अज्ञेय’ ने अपने समय की एक खास किस्म की जड़ता तोड़ी। ‘अज्ञेय’ इसलिए भी महत्वपूर्ण हैं क्योंकि वे संवाद की, असहमति की और नए आयामों के उद्घाटन की संभावना बरतते हैं। उनकी भूमिकाओं को तमाम असहमतियों के बावजूद उम्मीद की एक ‘लौ’ के रूप में देखा जाना चाहिए जिसमें इस बात की स्वीकृति है कि कविता हर युग में मनुष्यता का जगाने का कार्य करती रही है और आगे भी करगी।<sup>16</sup>

## संदर्भ

1. अज्ञेय; सप्तकों की भूमिकाएँ; आधुनिकता : संवेदना और संप्रेषण, संपादक कृष्णदत्त पालीवाल : वाणी प्रकाशन, संस्करण : 2010, पृष्ठ सं 114।
2. शुकदेव सिंह, आलोचना से हस्तक्षेप, पृ. सं. 6, विजय प्रकाशन मंदिर वाराणसी।
3. अज्ञेय, सप्तकों की भूमिकाएँ, वही पृष्ठ संख्या 142
4. अज्ञेय, वही
5. अज्ञेय, वही पृष्ठ संख्या 141
6. रामचरितमानस, उत्तरकांड, गीताप्रेस
7. अज्ञेय, तारसप्तक पृष्ठसंख्या 222-223, संस्करण 1995
8. अज्ञेय, सप्तकों की भूमिकाएँ, वही, पृष्ठसंख्या 130
9. वही, पृष्ठ संख्या 128
10. दीघनिकाय : सीलक्खन्धवग्गः सोणदण्डसुत्त, अनुवाद भिक्षु राहुल सांकृत्यायन एवं भिक्षु जगदीश कश्यप, संस्करण 1979 ईस्वी, पृष्ठ संख्या 45-46
11. अज्ञेय, छंदबोध, आधुनिक स्थितियाँ, पुस्तक आधुनिकता:संवेदना और संप्रेषण, सं. कृष्णदत्त पालीवाल, वही, पृष्ठ संख्या 314
12. वही, पृष्ठ संख्या 315-316
13. आचार्य शुक्ल, कविता क्या है, चिंतामणि भाग एक: पृष्ठ संख्या 100, संस्करण 2000, प्रकाशक इंडियन प्रेस, इलाहाबाद।
14. अज्ञेय, सप्तकों की भूमिकाएँ, संकलन वही, पृष्ठ संख्या 137
15. वही, पृष्ठ संख्या 132
16. आचार्य शुक्ल, कविता क्या है, वही पृष्ठ संख्या 103

## बदलते परिवेश में शिक्षा की चुनौतियाँ

### दिनेश मणि\*

मानवता आज अस्तित्व के संकट के दौर से गुजर रही है। सार्थक शिक्षा जीवन की एक अनिवार्यता बन गई है। विकासशील देशों के सामने विकास की जो अनेक उलझनभरी समस्याएँ हैं, वे भी प्रशिक्षित योग्यता की माँग करती हैं। उसके और विकसित देशों के बीच की दूरी कम करने के लिए शिक्षा के पुनर्नवीनीकरण की आवश्यकता है। समाज की आंतरिक असमानताओं और विसंगतियों को दूर करने के लिए भी शिक्षा की शक्ति उपयोगी हो सकती है।

शिक्षा केवल ऐसी एकतरफा व्यवस्था नहीं हो सकती जिसमें अध्यापक छात्र को पढ़ाए कि यह ठीक है तथा छात्र उसे समझे बगैर, मूल्यांकन किए बगैर परीक्षा में अध्यापक द्वारा पढ़ाए गए तथ्यों को लिखकर अच्छे अंक प्राप्त कर लें। इस तरह की शिक्षा कभी ऐसे व्यक्ति तैयार नहीं कर सकती जो कल के भारत की परिकल्पना कर सकें। जो यह सोच सके कि कैसे काम किया जाए। इससे मनुष्य का इस तरह से विकास होता है जो यंत्र की तरह काम करता है और हमें इस प्रवृत्ति को बदलने के प्रयास करने चाहिए।

किसी भी शिक्षक को यह महसूस नहीं होना चाहिए कि वह सब कुछ जानता है। सर्वश्रेष्ठ शिक्षक वह नहीं है जो बच्चे को कोई ज्ञान देता है बल्कि वास्तविक शिक्षक वही है जो बच्चों को ऐसी शिक्षा दे जिससे बच्चों का मस्तिष्क सक्रिय हो, उनमें जिज्ञासा की भावना पैदा हो। उनकी विचारने की शक्ति तेज हो ताकि बच्चे के सर्वोत्तम गुण उभरकर सामने आएँ और वह फूल की तरह विकसित हो। यह दुर्भाग्यपूर्ण है कि ऐसे अध्यापकों की संख्या, विशेषकर सरकारी स्कूलों में ज्यादा नहीं है।

हमारी शिक्षा नीति को बेहतर बनाने का कोई भी प्रयत्न तब तक सफल नहीं हो सकता जब तक कि शिक्षकों को, जो कि किसी भी शिक्षण प्रक्रिया की धुरी हैं,

\*दिनेश मणि डी.एस.सी., पूर्व संपादक, 'विज्ञान' मासिक, 35/3, जवाहर लाल नेहरू रोड, जार्ज टाउन, इलाहाबाद 211002

ऊपर उठाने के लिए हैं, उनकी बेहतरी की ओर ध्यान नहीं दिया जाता है, उनको प्रशिक्षण व उनके लिए समाज में यथोचित मान नहीं दिया जाता है। हमारा विकास कदाचित इस बात पर निर्भर करता है कि हम अपने समाज में शिक्षक को कितना मान-सम्मान देते हैं। सम्मान नहीं देंगे तो विकास भी नहीं होगा। हम अपने शिक्षकों को जिस स्तर तक सम्मान देंगे उसी स्तर तक हम ऊपर उठ पाएँगे। किंतु इसके साथ ही हम शिक्षकों से भी यह अपेक्षा करेंगे कि उनका दृष्टिकोण भी सही हो। शिक्षक जिन मूल्यों की शिक्षा दें, वे नैतिक मूल्य बदलती हुई परिस्थितियों के अनुरूप सही हों। प्रशिक्षण-प्रक्रिया में खोज व सृजनशीलता, शिक्षक का बुनियादी गुण होना चाहिए और यह तभी हो सकता है जब हम शिक्षक के प्रशिक्षण पर पूरा ध्यान दें तथा यह सुनिश्चित करें कि योग्यतम लोग शिक्षक बनें तथा ऐसा न हो कि हर जगह रोजगार तलाशने के बाद वे और कोई चारा न देखकर शिक्षक बनें।

औपचारिक शिक्षा द्वारा, व्यावसायिक शिक्षा द्वारा, गैर औपचारिक शिक्षा द्वारा, जहाँ तक पहुँच सके वहाँ तक प्रति व्यक्ति को शिक्षित करना है, तथा इसके साथ ही एक ऐसी प्रणाली भी चाहिए जिससे शिक्षा योग्य प्रत्येक व्यक्ति तक पहुँचा जा सके। इसके लिए हमें सभी उपलब्ध तरीके अपनाने होंगे। हमने कई क्षेत्रों में अपने चिंतन को सीमित कर दिया है। वास्तव में शिक्षा मूलतः ज्ञान के प्रसार का एक माध्यम है, चिंतन तथा दृष्टिकोण के प्रसार का एक तरीका है, एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी तक जीवन के सही मूल्यों को पहुँचाना तथा भावी पीढ़ी को आने वाली चुनौतियों का सामना करने के लिए तैयार करना है। प्रसार की विधियों को अब से 40 या 50 वर्ष पहले उपयोग की जा रही विधियों तक ही सीमित नहीं रखा जा सकता। परंपरागत भारतीय शिक्षा प्रणाली व्यक्तिपरक थी, जिसमें गुरु और शिष्य के बीच निकट का व्यक्तिगत संपर्क रहता था। जबकि आज एक गुरु और कई शिष्य वाले युग में यह संबंध बिलकुल समाप्त हो गया है। एक अध्यापक और एक शिष्य अथवा एक अध्यापक और तीन या चार छात्र पर आधारित संप्रेषण प्रणाली तब मायने नहीं रखती जब हम एक अध्यापक और 100 छात्रों या 200 छात्रों की बात कर रहे हों। हमें हर प्रकार की उपलब्ध विधि का प्रयोग करना होगा और पश्चिमी देशों या अन्य देशों में प्रयोग की जा रही विधियों को अपनाने या उनकी नकल करने की बजाय उन विधियों का अपनी आवश्यकता के अनुसार ही प्रयोग करना चाहिए क्योंकि हम ऐसी युवा पीढ़ी तैयार नहीं करना चाहते जो किसी अन्य देश की युवा पीढ़ी की नकल हो। हम किसी अन्य युवा पीढ़ी की बजाय भारत की युवा पीढ़ी तैयार करना चाहते हैं। हर उपलब्ध विधि का उपयोग करके ही ऐसा किया जा सकता है।

शिक्षा की नीति ऐसी होनी चाहिए कि वे हमारी राष्ट्रीय समस्याओं को सुलझाने में मदद करें आज सबसे अधिक बल राष्ट्रीय एकता और अखंडता पर दिया जाना चाहिए। क्षेत्रीय विशेषताओं को समाप्त करना होगा कि क्षेत्रीयता की भावना इस तरह

न विकसित हो कि वह हमारी राष्ट्रीय पहचान को समाप्त या कमजोर कर दे। हमें यह सुनिश्चित करना है कि धार्मिक नवजागरणवाद हमारी शिक्षा प्रक्रिया की कट्टरवादिता का माध्यम न बने। हमें यह देखना होगा कि हमारी शिक्षा की प्रक्रिया से समाज में हिंसा कम हो। हमारे समाज में भौतिकवाद या उपभोक्तावाद की उस अवधारणा के लिए चुनौती पैदा हो जो प्रचार माध्यमों और हमारे आसपास की दुनिया द्वारा हम पर थोपी गई है। यह दबाव बहुत गंभीर है। शिक्षा प्रणाली द्वारा इसका सामना किया जाना है। हमारी शिक्षा प्रणामी धर्म-निरपेक्षता, समाजवाद, लोकतंत्र, राष्ट्रवाद को बढ़ावा देने तथा समुचित नैतिक मूल्यों को आगे बढ़ाने में सहायक होनी चाहिए। हमें ग्रामीण क्षेत्रों में रहने वाले लोगों की जरूरतें पूरी करने, उनके पोषाहार, स्वास्थ्य में सुधार लाने और सबसे बढ़कर उनके जीवन को बेहतर बनाने के अवसर देने के लिए शिक्षा और विज्ञान का इस्तेमाल करना है।

हमने यह भी देखा है कि शिक्षा का जितना भी प्रसार हुआ है, उससे परिवार के आकार को घटाने में सहायता मिली है और एक तरह से इसने उन दूसरे तरीकों की तुलना में, जिनका हम प्रचार करने की कोशिश में लगे हैं, जनसंख्या नियंत्रण का काम कहीं अच्छे ढंग से किया है। हमारे आर्थिक विकास की गति हमारी जनसंख्या में होने वाली वृद्धि की तुलना में अधिक होनी चाहिए। जनसंख्या पर काबू पाने का एक सबसे अच्छा तरीका लोगों को शिक्षित करना है, खासतौर से महिलाओं को शिक्षित करना।

हम अपनी शिक्षा प्रणाली को मात्र साक्षरता डिग्रियों और उच्च शिक्षा तक ही सीमित नहीं कर सकते। इसमें दैनिक जीवन के काम-काज से संबद्ध दक्षताओं के विकास के लिए व्यावसायिक प्रशिक्षण को समुचित स्थान दिया जाना चाहिए। व्यावसायिक प्रशिक्षण किस स्तर का होना चाहिए यह भी ध्यान रखना होगा। कुछ क्षेत्रों में यह एक बहुत ही साधारण प्रशिक्षण हो सकता है। हमारी प्रणाली इस प्रकार की होनी चाहिए जो लोगों को अपना रोजगार शुरू करने के लिए प्रेरित करे, जो उनमें अपनी सहायता स्वयं करने की भावना पैदा करें और वे सिर्फ दफ्तर के बाबू के रोजगार की तलाश न करें। भारत जैसे बड़े देश में आज ऐसी भावना की जरूरत है। यह काम मात्र परीक्षाओं के माध्यम से पूरा नहीं किया जा सकता। इसके लिए ऐसे तरीकों का पता लगाना होगा जिससे हम प्रत्येक बच्चे की योग्यता और प्रत्येक व्यक्ति की दक्षताओं का सही-सही पता लगा सकें। हमें यह सोचना होगा कि हम डिग्रियों की नौकरियों से अलग कैसे कर सकते हैं। सरकारी क्षेत्र में रोजगार संभवतः सबसे महत्वपूर्ण है। हमें इसी क्षेत्र के लिए एक विशेष योजना बनानी चाहिए जिससे डिग्रियों और नौकरियों को अलग किया जा सके, जिससे ऐसे कॉलेज खोलने के लिए दबाव कम हो जहाँ पर ली गई शिक्षा अथवा डिग्री का स्तर घटिया किस्म का होता है और जिसके माध्यम से सरकार में काम करने के लिए और देश की सेवा करने के लिए सर्वश्रेष्ठ लोग उपलब्ध हों।

हमारे यहाँ गैर औपचारिक या सुदूर शिक्षा प्रणाली का होना भी आवश्यक है। यह व्यावसायिक शिक्षा नहीं है। इस प्रणाली के अंतर्गत ऐसे लोगों को पढ़ाने का प्रयास किया जाएगा जो औपचारिक प्रणाली के अंतर्गत शिक्षा प्राप्त नहीं कर सके या औपचारिक शिक्षा के दौरान उनकी पढ़ाई बीच में रुक गई थी। इस प्रणाली से उन्हें अपनी छूटी हुई शिक्षा को फिर से आगे बढ़ाने का मौका मिलता है और वे अपने को औपचारिक शिक्षा प्रणाली के स्तर तक ला सकते हैं। यदि वे महसूस करते हैं कि वे सक्षम हैं या उन्होंने काफी शिक्षा प्राप्त कर ली है या वे चुनौती का सामना कर सकते हैं तो वे फिर से औपचारिक शिक्षा प्रणाली में शामिल हो सकते हैं।

हमें अपने समाज को एक ऐसा समाज बनाना होगा जहाँ शिक्षा के प्रति हमेशा रुझान बनी रहे। स्कूल या कॉलेज छोड़ने के साथ ही शिक्षा समाप्त नहीं हो जाती। यह तो एक ऐसी प्रक्रिया है जो जीवन भर चलती है और जब तक हमारे समाज में शिक्षा के प्रति सशक्त रुझान नहीं बनेगा तब तक हम वास्तव में विकसित नहीं हो सकेंगे और आने वाले वर्षों में भारत सम्मुख चुनौतियों का सामना नहीं कर सकेगा। हमारी शिक्षा प्रणाली ऐसी होनी चाहिए जिससे लोगों की क्षमताओं का विकास हो, उनके जीवन के माध्यम से हमारे समाज में उनका महत्वपूर्ण योगदान हो। यह सब करने के लिए हमें सभी के लिए एक बुनियादी शिक्षा उपलब्ध करानी होगी चाहे यह औपचारिक शिक्षा, गैर-औपचारिक शिक्षा, व्यावसायिक शिक्षा के माध्यम से हो या फिर खुले विश्वविद्यालयों जैसे अन्य संस्थानों, सुदूर शिक्षा प्रणाली या शिक्षा के अन्य माध्यमों से हो।

हमारे समाज के कुछ वर्ग ऐसे हैं जहाँ शिक्षा का प्रसार उतना नहीं हुआ जितना होना चाहिए था। अनुसूचित जातियाँ, अनुसूचित जनजातियाँ और कुछ दूसरे कमजोर वर्ग ऐसे ही उदाहरण हैं। लेकिन यदि हमें किसी ऐसे वर्ग का पता लगाना हो जो शिक्षा की दृष्टि से सबसे अधिक उपेक्षित रहा है तो वह वर्ग है महिलाओं का, लड़कियों का। चाहे उच्च वर्ग हो या मध्यम वर्ग, चाहे अनुसूचित जातियाँ हों या अनुसूचित जनजातियाँ, या पिछड़े वर्ग, चाहे अल्पसंख्यक हों, सभी वर्गों में लड़कियों को ही सबसे कम शिक्षा मिलती है, लड़कियों की ही पढ़ाई अधूरी रह जाती है। हमारे लिए यह विशेष चुनौती होनी चाहिए कि हम देखें कि हम स्कूलों में अधिक-से-अधिक संख्या में लड़कियों को कैसे शिक्षा दे सकते हैं। हमने लड़कियों के लिए माध्यमिक स्तर तक शिक्षा को निःशुल्क कर दिया है लेकिन इससे उनकी बीच में ही पढ़ाई छोड़ने की दर में कमी नहीं आई है। हमें ऐसे उपाय करने चाहिए जिससे लड़कियों को अपनी पढ़ाई जारी रखने की प्रेरणा मिले। यह प्रेरणा लड़कियों को ही नहीं बल्कि उनके माता-पिता और समाज को भी मिलनी चाहिए, विशेषकर ग्रामीण क्षेत्रों में लोग लड़कियों की पढ़ाई को महत्व दें।

गाँवों के परिवारों की कुछ ऐसी व्यावहारिक समस्याएँ होती हैं जो लड़कियों के स्कूल जाने में बाधक होती हैं। इन समस्याओं को दूर किया जाना चाहिए जैसे कि घर से स्कूल काफी दूर पर होना, सह-शिक्षा की समस्या। लड़कियों को स्कूलों में भेजने और उनकी पढ़ाई को जारी रखने के लिए हमें समाज के नेताओं, स्वयंसेवी संस्थाओं, विशेषकर महिलाओं की संस्थाओं को सक्रिय करना होगा।

वास्तव में शिक्षा न तो अपने आप ही कोई क्रांति लाएगी और न ही नैतिक व्यवस्था में परिवर्तन करेगी। इसकी भूमिका तो अनिवार्य रूप से प्रारंभिक और समर्थक होगी, लेकिन इसका महत्त्व भी इस दृष्टि से है कि यह हमें वैकल्पिक भविष्य की ओर अग्रसर होने में सहायता देती है। समय आ गया है कि अब हम उस भविष्य के बारे में गंभीरता से विचार करें और जीने के लिए एक नया अभिकल्प तैयार करें। भविष्य के समाज की बुनियाद निश्चित रूप से सेवा और बलिदान की भावना पर ही रखी जाएगी। वह उपभोग के महत्त्व को घटाएगी और सामाजिक सेवाओं पर बल देगी। हमें बहुत निष्ठा और स्पष्टता के साथ श्रम और सादगी की ओर जाना होगा। विकास पर पुनर्विचार करते हुए हमें जीवन के गुणात्मक आयामों पर भी विचार करना होगा और शिक्षा को नए सामाजिक लक्ष्यों के अनुकूल बनाना होगा।

## पूर्वोत्तर के असम में हिंदी भाषा साहित्य के विकास का परिदृश्य

दिनेश कुमार चौबे\*

प्रारंभ में यह विश्वास ही नहीं होता था कि असम जैसे हिंदीतर राज्य ने हिंदी भाषा और साहित्य के विकास में किसी प्रकार का योगदान दिया होगा। पर न केवल इस भ्रम का निराकरण हुआ बल्कि ग्रियर्सन की उक्ति “हिंदी प्रारंभ से ही आंतर भाषा के रूप में विकसित हुई थी” की सच्चाई भी प्रकट हुई। हिंदी के व्यापक, संघीय और संश्लिष्ट रूप को आजकल कभी-कभी आँखों से ओझल कर दिए जाने के कारण ही खड़ी बोली और उसके साहित्य मात्र को हिंदी मानने की नासमझी की जाती है। व्याकरणिक भिन्नता और भाषा वैज्ञानिक साक्ष्यों के आधार पर हिंदी की पश्चिमी, पूर्वी, बिहारी और राजस्थानी बोलियाँ परस्पर भिन्न होने के बावजूद काव्य भाषा के संरचनात्मक स्तर पर विभिन्न जनपदों (आजकल के राज्यों) को जातीय और सांस्कृतिक एकता के उदार सूत्रों से बँधी रही है। इसी प्रकार हिंदीतर प्रदेशों की ‘गूजरी’ गुजरात, ‘शास्त्री’, अथवा ‘शास्त्रीक’ (पंजाब), ‘गुसाई भाषा’ (केरल), ‘ब्रजबुलि’ (बंगाल, ओड़िशा), ‘ब्रजावली’ (असम), ‘गोहारी’ (सिलहट अंचल, बंगलादेश) इत्यादि भाषाएँ एवं उनमें रचित विशाल साहित्य भी हिंदी की क्षेत्रीय दृष्टि से अनिर्दिष्ट रूप, अखिल भारतीय रूप के अंतर्गत आ जाते हैं। प्रारंभ से ही हिंदी ने न केवल गंगा-यमुना की काँठे की विभिन्न जनपदीय संस्कृतियों को अपितु कामरूप से लेकर केरल और कश्मीर तक मोटे तौर पर समग्र भारतवर्षकी क्षेत्रीय और जनपदीय संस्कृति को अपनी परिधि में समेटा है। जनपदीय वैविध्य के बावजूद उनमें सतत प्रवहमान सांस्कृतिक अंतःसलिला और काव्य संरचना की आंतरिक एकसूत्रता के कारण कबीर और केशवदास कायस्थ (गुजरात), सूर और शंकरदेव (असम), तुलसी और स्वाति तिरुनाल (केरल), सिद्ध लिंगेस (कर्णाटक) और नदेल्ल पुरुषोत्तम (आंध्र), बाबा शंकरगंज (पंजाब) और

\* डॉ. दिनेश कुमार चौबे, एसोसिएट प्रोफेसर, हिंदी, पूर्वोत्तर पर्वतीय विश्वविद्यालय, शिलांग-22,  
फोन : 03642550139, मो. 09436312134



यशोराज खान (बंगाल), राय रामानंद पट्टनायक (ओड़िशा) और नामदेव (महाराष्ट्र) इत्यादि को हम एक ही विशिष्ट विकसनशील काव्य भाषा के विविध रूपों के प्रयोक्ता घोषित कर उन्हें हिंदी की आख्या से विभूषित करते हैं, किंतु खड़ी बोली से वर्तमान उर्दू भाषा का व्याकरण एवं बोलचाल के सामान्य स्तर पर साम्य होने के बावजूद मीर और गालिब को हिंदी का कवि नहीं मानते हैं। तात्पर्य यह कि हिंदी प्रारंभ से ही समग्र भारत की न केवल संपर्क भाषा, अपितु साहित्य सृजन की भाषा भी रही है। उपलब्ध सामग्री की निरीक्षा परीक्षा करने के पश्चात हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि अन्य हिंदीतर राज्यों की तरह ही असम में भी हिंदी भाषा का विकास और उसमें काव्य सृजन प्रायः उसी समय से प्रारंभ होता है जब से हिंदी भाषी राज्यों में।

‘असम’ नाम अपेक्षया नवीन है। आज से हजार-बारह सौ वर्ष पूर्व जब हिंदी का प्रारंभ हो रहा था, इसका नाम ‘कामरूप’ था। ‘कालिकापुराण’ (38/118) में कामरूप का विस्तार पश्चिम में करतीया नदी से पूर्व में ललितकाता (दिक्कड़वासिनी नदी) तक बताया गया है। वर्तमान पश्चिम बंग का उत्तरी क्षेत्र और बाङ्ला देश का सिलहट क्षेत्र कामरूप के अंतर्गत था। राजनीतिक दृष्टि से कदाचित्त यह तब भी कई इकाइयों में विभक्त था। उपलब्ध साक्ष्यों से सिद्ध होता है कि कामरूप में कामरूपी (असमी) भाषा के साथ-साथ हिंदी में काव्य सृजन होता था। इस दृष्टि से सिद्धों और नाथों की रचनाएँ उद्धृत की जा सकती हैं।

डॉ. सुनीति कुमार चटर्जी ने लिखा है—“एक हजार वर्ष शुद्ध बंगला भाषा के साथ-साथ कहीं-कहीं बंगाल के साहित्यिकों के बीच शौरसेनी अपभ्रंश नाम से परिचित, प्राचीनतम पछाँही हिंदी का एक प्राचीनतर साहित्य प्रकार भेद प्रचलित था। अतः प्रथम युग के बंगाली कवि तथा अन्य लेखकगण बंगला के साथ-साथ पछाँही हिंदी के एक प्रकार के प्राचीन साहित्यिक रूप की चर्चा करते थे तथा उसमें गान और कविता रचते थे। फिर यह भाषिक रूप परवर्ती काल में प्रचलित बंगाली वैष्णव कवियों की भाषा ‘ब्रजबुलि’ के समान था। इससे स्पष्ट है कि ईसा की दसवीं शती के आस-पास जो बंगाल के लिए सत्य है, वह कामरूप यानी असम के लिए भी। कामरूप के काव्यकार भी उस समय कामरूपी के अतिरिक्त हिंदी में रचना करते होंगे। दुर्भाग्य से उस समय की रचनाएँ (हिंदी और कामरूपी दोनों की) अप्राप्य हैं। ‘चर्यापद के पश्चात लगभग चौदहवीं सदी (माधव कंदलि के पूर्व) तक असमी भाषा और उसकी कविता के उदाहरण भी अप्राप्य हैं। इस काल में रचित यहाँ की हिंदी कविता का अप्राप्य होना अस्वाभाविक नहीं।

पुनः शंकरदेव द्वारा ब्रजावली भाषा में रचित गीतों और नाटकों को, जिन्हें प्रायः सभी आलोचकों ने उनकी समस्त रचनाओं में श्रेष्ठ स्वीकार किया है, देखने से यह विश्वास ही नहीं होता कि उनके पूर्व ब्रजावली की कोई परंपरा नहीं होगी। अस्तु, अभी यह अनुमान भर किया जा सकता है कि शंकरदेव के पूर्व भी ब्रजावली अथवा हिंदी

के किसी-न-किसी भाषिक रूप में गीत अवश्य रचे जाते होंगे जिसे उन्होंने परंपरा से अर्जित किया होगा। प्रस्तुत अनुमान की पुष्टि इससे होती है कि आमबाड़ी और नगाँव (डबका) से प्राप्त शिलालेखों (शंकरदेव पूर्ववर्ती) की भाषा को विभूति पाचनी ने ब्रजावली से अपृथक स्वीकार किया है।<sup>3</sup> शंकरदेव पूर्व ब्रजावली भाषा की उपलब्धि के ये प्रमाण निश्चय ही महत्त्वपूर्ण हैं।

कामरूप में ब्रजावली भाषा के अंतर्गत हिंदी की न केवल पछाँही (ब्रजी) रूप का बल्कि उसके पूर्वी रूप का भी प्रचार-प्रसार हुआ था। डॉ. सुनीति कुमार चटर्जी ने लिखा हैचौदहवीं शती में सूफी प्रभाव से, संभवतः शाह जलाला के अनुचरों द्वारा बंगाल में ‘अवधी’ भाषा का भी प्रचार हुआ था। तत्कालीन कामरूप के श्रीहट्ट (सिलहट) अंचल में वही भाषा गोहारी या गोयारी नाम से जानी जाती थी।<sup>4</sup> यह भाषा देवनागरी लिपि में ही लिखी जाती थी बाद में बंगाक्षर और नागराक्षर के मेलजोल से लिपि में ही किंचित भिन्नता होती गई और वही आज भी सिलहटी नागरी (सिलेटी नागरी या सिलेटी) के नाम से जानी जाती है। गोहारी या गोयारी का प्रचलन मुख्यतः मुस्लिम समाज तक ही सीमित रहा और इस भाषा में कई मुस्लिम कवियों ने धार्मिक गीत और गाथाएँ एवं सूफी प्रेमाख्यानों की रचनाएँ भी की हैं। उक्त क्षेत्र के अब बाङ्ला देश में मिल जाने से इस विषय में कुछ अधिक कहना संभव नहीं है, पर यदि असम के कछार जिले के मुस्लिम घरों की उचित छानबीन की जाए तो भी कतिपय पांडुलिपियों के प्राप्त होने की संभावना से इनकार नहीं किया जा सकता। कॉटन कॉलेज, गुवाहाटी के फारसी विभाग के अध्यक्ष प्रो. नाजिमुद्दीन अहमद के निजी भंडार में भी गोहारी भाषा (सिलहटी नागरी) की एक पांडुलिपि सुरक्षित है जिसकी लिपि देवनागरी और कैथी (कैथाली) का मिश्रित रूप है। इस भाषा के कवियों में दौलत काजी और सय्यद आलाऔल की रचनाएँ अधिक लोकप्रिय हैं जिन्हें लोग बहुधा गाते भी हैं। पर्याप्त शोध के अभाव में इस भाषा की रचनाओं और कवियों के विषय में कुछ भी कहना अभी असंगत ही होगा।

उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट है कि असम अथवा कामरूप में हिंदी के एक रूप विशेष का विकास, प्रचार और उसमें साहित्य का सृजन प्रायः हिंदी भाषी राज्यों के समानांतर ही होने लगा था। हाँ, यह सत्य है कि यहाँ सृजन कार्य न तो लगातार चलता रहा और न जो भी आज तक लिखा गया है उसके क्रमिक विकास के साधन के लिए किसी प्रकार की योजना बनाई गई है। साधारण सर्वेक्षण से यह भी स्पष्ट होता है कि यहाँ हिंदी लेखन सदा अबाधित नहीं रहा। कभी-कभी शताब्दियों तक हिंदी की विकास यात्रा की रेखा अस्पष्ट, धूमिल और प्रायः लुप्त ही प्रतीत होती है। संरक्षण के अभाव और प्राकृतिक बाधाओं के बावजूद यहाँ जो थोड़ी-बहुत सामग्री विधि-विधान से बच गई है, वह निश्चय ही मूल्यवान है और हिंदी के मध्यकालीन इतिहास में एक नवीन क्षितिज का संकेत करने वाली है। असम में हिंदी साहित्य के मौलिक सृजन का

विकास यात्रा को रेखांकित और उसकी कतिपय प्रमुख उपलब्धियों को इंगित करने की सुविधा की दृष्टि से उसे मोटे तौर पर दो भागों में विभाजित किया जा सकता है

(क) आदि एवं मध्यकाल और

(ख) आधुनिककाल।

**(क) आदि एवं मध्यकाल :** हिंदी के प्रारंभिक साहित्यकारों में सिद्धों एवं नाथों के नाम आते हैं तथा सरहपा को पहला हिंदी कवि घोषित किया जाता है। असमीया भाषा और साहित्य के आलोचकों के अनुसार सरहपा की जन्मभूमि कामरूप जिले की रानी (राज्ञी) गाँव ही रही होगी। सिद्धों में मीनपा अथवा लुइपा भी शायद यहीं के थे और यह भी असंभव नहीं कि कई अन्य सिद्धों एवं नाथों का संबंध भी कामरूप से ही रहा हो।

सिद्धों, नाथों के पश्चात कई शताब्दियों तक असम में किसी हिंदी साहित्यकार का पता नहीं चलता है। आगे पुनः विक्रम की सोलहवीं शती से कामरूप में हिंदी लेखन का क्रमिक इतिहास मिलता है।

असम में मध्यकालीन नव्य वैष्णव आंदोलन के प्रवर्तक शंकरदेव ने संस्कृत और असमीया भाषा के अतिरिक्त ब्रजावलीतत्कालीन हिंदी के मानक काव्य भाषा के एक रूपमें भी रचनाएँ की हैं। ब्रजावली के विषय में अन्यत्र उल्लेख है—“ब्रजी अथवा ब्रजरंजित रचनाएँ जिन अर्थों में हिंदी के अंतर्गत स्वीकृत और मान्य होती रही हैं, उन अर्थों में ब्रजावली भी अपने शुद्ध रूप में हिंदी ही है। उसमें सूरपूर्व ब्रजभाषा की सारी विशेषताएँ प्राप्त हैं। वह उत्तर भारत की भाषिक और साहित्यिक एकता की परिणति है। तभी तो डॉ. भोलानाथ तिवारी ने अपने ग्रंथ ‘हिंदी भाषा’ (पृ. 159) में ब्रजावली को हिंदी की एक बोली के रूप में स्वीकृत किया है। डॉ. दशरथ ओझा के अनुसार—“हमारे देश में भाषा और साहित्य में ब्रजावली में रचित ये भाषा नाटक उस एकसूत्री, व्यापक और सार्वदेशिक प्रवृत्ति शृंखला के रूप में समादृत होने चाहिए जो पूरी होने के पहले ही छिन्न-भिन्न हो गई। यदि वह पूरी हो जाती तो कौन जाने हमारे देशविशेषतः उत्तरी भारत की भाषा और साहित्य का एकीकृत रूप कितना भव्य हो पाता।”<sup>6</sup> वस्तुतः अवहट्ट काल के उपरांत अंतरप्रांतीय व्यवहार और काव्य सृजन की भाषा का नाम है ‘ब्रजावली’सही अर्थों में ब्रजबोली में, जिसका आधार भी शौरसेनी है, असम के वैष्णव कवियों ने अपरिमित रचनाएँ की हैं। वे रचनाएँ विषयवस्तु एवं भाषा वैज्ञानिक दृष्टि से तत्कालीन हिंदी की मानक रचनाओं के अधिक निकट पड़ती हैं। इसका अधिकांश साहित्य आज भी अप्रकाशित है। असम के सत्रों (वैष्णव मठों) एवं अन्यान्य वैष्णवों के वैयक्तिक संग्रहों में हजारों पोथियाँ आज भी वैज्ञानिक अध्ययन और अनुसंधान के अभाव में उपेक्षित पड़ी हैं। आगामी पृष्ठों में हम कतिपय प्रमुख साहित्यकारों और उनकी रचनाओं का परिचय उपस्थित करेंगे जिन्हें आदि और मध्ययुगीन हिंदी के मौलिक साहित्य सृजन का श्रेय दिया जाना चाहिए।

## (1) मीननाथ

ये मीनपा, मीनपाल, मीननाथ, मच्छेन्द्रपा, मच्छन्द्रनाथ इत्यादि कई नामों से जाने जाते हैं। तिब्बती ग्रंथों में इन्हें ही लुइपा कहा गया है। इन्हें कामरूप का कछुआ वंशीय माना जाता है जिसकी पुष्टि लुईपा (लुइत या लौहित्यपाद) नाम से होती है। विभिन्न साक्ष्यों से पता चलता है कि इन्हीं मीननाथ अथवा मत्स्येन्द्रनाथ के शिष्य गोरखनाथ (गोरक्षनाथ) थे। कामरूप के प्रसिद्ध ‘योगिनी’ नामक कौलपंथ का प्रवर्तन इन्होंने ही किया था। इन्हें नाथपंथ का प्रवर्तक आचार्य भी माना जाता है। डॉ. बड़धवाल ने ‘योग प्रवाह’ में इनके कतिपय फुटकल पद्यों का संकेत भी किया है। आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी ने ‘नाथ सिद्धों की वानियाँ’ में इनके कुछ मुक्तक दिए हैं। पंडित हरप्रसाद शास्त्री के ‘बौद्ध गान ओ दूहा’ से यहाँ इनका एक पद्य प्रस्तुत है

*कहति गुरु परमार्थर बात, कर्म कुरंग समाधिक पात।*

*कमल विकसित कहै न जमरा, कमल मधु पिबि ढोके न भवरा॥*

## (2) शंकरदेव

कबीर, सूर और तुलसी तीनों के समन्वित व्यक्तित्व के मूर्तिमान उदाहरण थे शंकरदेव। असम में नव्य वैष्णव भक्ति आंदोलन के ये प्रवर्तक थे। वस्तुतः धर्माचार्य, धर्मगुरु, धर्मोपदेशक, धर्मप्रचारक, समाजसुधारक, लोकनायक, योद्धा, कवि, नाटककार, अभिनेता, गायक, चित्रकार इत्यादि के एकत्र समाहार का ही नाम था शंकरदेव, जो असमवासियों के सांस्कृतिक जीवन के नाभिकेन्द्र हैं।

हिंदी (ब्रजावली) में शंकरदेव कृत रचनाएँ निम्नलिखित हैं

**काव्य** 1. बरगीत; 2. फुटकल पद्य (तोटय और भटिमा)।

**नाटक** 1. पत्नीप्रसाद नाट; 2. कालिदमन नाट; 3. कलीगोपाल नाट; 4. रुक्मिणीहरण नाट, 5. पारिजातहरण नाट, 6. रामविजय नाट।

शंकरदेव की काव्य साधना के विषय में अन्यत्र भी उल्लिखित है कि ‘बरगीत’ उनकी साधना के सोपान हैं। विषय की संक्षिप्तता और भाव का संकोच इनकी विशेषता है। तोटय और देव भटिमा में भी विनय ही प्रमुख है। राज भटिमा प्रशस्तिमूलक है। नाटकों के गीतों में संगीत भी है, संवाद भी है, आख्यान भी है और चित्र भी। भावों की आवृत्तियों के बावजूद उनमें नवीनता है। उनके नाटक बहुज्ञता एवं कलात्मकता इत्यादि की दृष्टि से उस युग की अद्वितीय उपलब्धि हैं। संस्कृत के संगीतकों के वे सुन्दर विकास रूप हैं और लेखक की युग प्रवर्तक प्रतिभा के परिचायक

हैं। उनमें जीवन की तिक्तता, कसैलापन और मिठास सभी कुछ है। शंकरदेव का भावुक कवि इन नाटकों में जीवन को वास्तविक धरातल पर समग्रता में उतार लाने में सफल हुआ है। आगे उनके पद्य के दो उदाहरण प्रस्तुत किए जाते हैं

(क) *जय जय जादव जल निधिजा धव धाता,  
श्रुतमात्राखिल त्राता ।  
स्मरणे करय सिद्धि दिन दयानिधि, भक्त मुकुतिपद दाता॥  
जगजनजीवन अजन जनार्दन दनुजदमन दुखहारी ।  
महादानंद कंद परमानंद नंदनंदन वनचारी॥  
बिबिध बिहारबिसारद सारद इंदुनिधि परकासी ।  
सेस सयन सिव कोसि बिनासन पितबसन अविनासी॥  
जगतबंधु विधु माधव मधुरिपु मधुर मूरुति मुनरासी ।  
केसवचरणसरोरु किंकर शंकर एहु अभिलासी॥*

**बरगीत ।**

(ख) **श्रीकृष्ण :** हे सखिसब बिलाप छोड़ह। तोरा सब जे प्रेम भक्ति कयल, ताहे सुझाइये नाहि परि। हामु रिनि हुया रहल, ओहि सत्य बानी जाति असूया छोड़ह।  
*हामाक सपत, उठह उठह। परम उत्सुके रास केलि करसिया।*

सूत्रधारओहि बोलि, हाते धरि तुलिकहों जमुनाक बालि नामि, रासक्रीड़ा आरंभल। गोपिसब बिरह ताप तेजिए कृष्ण वाक्यमृते तृपिति हुआ, परम उत्सुके क्रीडाक प्रबेसल। हरि काहुक चुम्बई, काहुक हास्ये निरेखय, काहुक नखे तन परसय, काहुक आलिय। एवं विध अनंग खेलाये, गोपिक चित रंजि श्री गोपाल क्रीड़ा कयल। गोपिसबकृष्णक समान पाइ जैसे परम उत्सुके केलि कयल : ता देखह सुनह।  
केलिगोपाल नाट

### (3) माधवदेव

माधवदेव शंकरदेव के सर्वाधिक योग्य शिष्य थे। शंकरदेव की मृत्यु के उपरांत महापुरुषिया अथवा एक शरणिा भक्ति धर्म के प्रचार-प्रसार का उत्तरदायित्व माधवदेव को ही संभालना पड़ा। इनके विषय में कहा जाता है

*शंकरे भक्ति प्रकाश करिल, माधवे प्रचारिला ।  
माधव प्रसादत व्याभिचारी अज्ञानी, सबे बुजिला॥*

माधवदेव कृत (ब्रजावली) में निम्नलिखित रचनाएँ हैं

### काव्य

1. बरगीत; 2. फुटकल पद्य (भटिमा)

### नाटक

1. अर्जुन भंजन यात्रा; 2. चोरधरा झुमुरा; 3. भूमिलोटवा झुमुरा; 4. पिंपरा गुचोवा झुमुरा, 5. भोजन विहार झुमुरा, 6. ब्रह्ममोहन, 7. भूषणहरण झुमुरा, 8. कटोरा खेलोवा झुमुरा, और 9. रास झुमुरा

इनमें 'ब्रह्ममोहन झुमुरा' और 'भोजनविहार झुमुरा' मूलतः एक ही रचना के अलग-अलग भाग हैं जो प्रकाशित रूप में दो स्वतंत्र रचना के रूप में आजकल परिगणित हो रहे हैं। इनके अतिरिक्त शंकरदेव के तीन और नाटकों की सूचना भर मिलती है। इनकी समस्त उपलब्ध रचनाएँ प्रकाशित हैं।<sup>7</sup> असम के भक्त कवियों में इनकी रचनाएँ विषयवस्तु और कथनभंगी की दृष्टि से सूर की कविता के निकट पड़ती है। अन्यत्र इनके विषय में उल्लेख है "गीति काव्य का संपूर्ण माधुर्य इनके गीतों में प्राप्त है। दैन्य और आत्मनिवेदन गीत जहाँ हृदय को बेधते हैं, वहीं कृष्ण की बाल क्रीड़ा के गीत उल्लासित भी करते हैं। कृष्ण की चतुराई, ढिठाई, बतकटई, बहानेबाजी, छेड़-छाड़, जिद, होड़ा-होड़ी इत्यादि ऐसी अनेक मनोहारी चेष्टाएँ हैं जिनके निरूपण और अंकन में माधवदेव का कविकर्म और कौशल अष्टछाप शिरोमणि सूरदास से टक्कर लेता हुआ प्रतीत होता है।" इनके नाटक प्रायः आकार में लघु हैं, पर उपलब्धि के दृष्टि से महान हैं। उनका लालित्य और सौंदर्य यथार्थपरक, लघु एवं रोचक संवादों में अंतर्निहित है।

यहाँ उनका एक बरगीत और एक नाट्यगीत उदाहृत किया जाता है :

(क) *प्रातस समये जसोदा जननी मुख चुम्बत श्याम जगावन को ।  
उठ मेरे लाल मदन गोपाल आवै तेरे गोवाल बोलावन को॥  
अब रूटिया लेहु माखन संचौ पुरि मुररि लेहु बजावन को ।  
वृंदावन जाहु आनंद करु जमुना तट धेनु चरावन को॥  
भटिया, भोजनविहार झुमुरा*

(ख) *गोविन्द! दुध पिउ, बोलेरे यशोवा ।  
दुध न पिय हरि, कांदि ओवा ओवा॥  
अरुणा अधर मोदि कांदि यदुमणि ।  
चांद मुखेरे बलाई लेउ बोलेरे जननी॥  
कांदते नयन नीर धारे बहि परे ।*

कमल पत्र उपर जेन शिशिर बूंद रे॥  
जननीक मुख देखि कांदे यदुपति ।  
मइ जाऊँ तुमि शुवा बोले यशोमति॥  
पावें धरउ शिरे करौ दूध पिउ हरि ।  
मुखे स्तन लेया कांदे फोकारि फोकारि॥  
जगतर गुरु भाव लैया मानवीकु ।  
काँदिए आकुलमति कयले जननिकु॥  
कहय माधवदास बर अगियान ।  
ओहि भाव सुमरि छूटोक मेरी प्राणा॥

बरगीत

#### 4. गोपाल आता

गोपाल आता के ब्रजावली में दो नाटक उपलब्ध हैं

(क) जन्म यात्रा और, (ख) गोपी उद्धव संवाद नाट ।

एक अन्य कृति 'नंदोत्सव' या 'बोका यात्रा' भी बताई जाती है, पर वह 'जन्मयात्रा' का ही किंचित् भिन्न रूप है ।

'जन्मयात्रा' में श्रीकृष्ण के जन्म और नंद द्वारा पुत्रजन्मोत्सव मनाए जाने की घटना को नाटकीय रूप दिया गया है एवं 'गोपी-उद्धव-संवाद' में गोपी और उद्धव के संवाद को कथा का । गोपाल आता ने ही पहली बार अपने नाटकों में स्वरचित गीतों के अतिरिक्त दूसरे कवियों के गीतों को भी प्रयुक्त करने की पहल की है, जिसे परवर्ती काल में काफी महत्त्व मिला है । इस प्रकार इन्हें एक नई परंपरा की शुरुआत करने का महत्त्व प्राप्त है । भाषाशैली की दृष्टि से इनका एक गीत द्रष्टव्य है । यथा

(राग धनश्री । जाति मान)

हरखे गोपिनी पूछय घरे, घरे सुन सुन सखिगण ।  
चलहों सब जाई जनम साफलु पेखी नंदनंदन रे॥ध्रु॥  
एमन मधुर मुरुति बालक, नाहि त्रिभुवन माझे ।  
हामारि सुभ दिन नंदेर भवने, आनदे दुंदुभि बाजे॥  
नाना बसन भूषण पिधि अंगे, हृदय गजमोति लोले ।  
कुंडल झलमल नयन काजल, कबरि भरिया फुँले रे॥  
केयुर कंकन करत रूनझुन, चरने मंजीर झुरे ।  
मंगल महोत्सव कीर्तन हरि रब, सबद दसों दिसि पुरे रे॥  
नाना उपायन सदैस धरि सबे, प्रबेसे नंदक घर ।  
जयति जय जय मंगल बोलए, उर्धक तुलिया हात रे॥

कहय गोपाल नंदनंदन पाव ऐहि मन मेरि आस ।  
ब्रजेर बपुर रेणु सिरे धरि होबहौं दासकु दास रे॥

(जनमयात्रा)

#### (5) रामचरण ठाकुर

रामचरण ठाकुर माधवदेव के भांजे और कदाचित् उन्हीं के शिष्य थे । हिंदी में लिखित इनकी एकमात्र रचना 'कंसबध' नाटक है । भाषा सरल और भावानुसारी है । भाषाशैली की दृष्टि से यहाँ उनका एक गीत उद्धृत है ।

यथा

(राग कानडा । परिताल)

रजक वानि सुनि कोपे गोपाल ।  
चवर प्रहार कयलि ततकाल॥ध्रु॥  
छिडल माथे चवर प्रहारे ।  
जतये धोवासब संगि ताहारे॥  
भासे पलावन वस्त्र पेलाई ।  
देखिए राम-कृष्ण दुहों भाई॥  
आनंदे वस्त्र भाल बाछि लैल ।  
आन वस्त्र सब गोयकु दैल॥  
देखि गोप सब करिले हरिष ।  
सिंगासंख बेणु पुरये दसो दिस॥  
जय जय कृष्ण करे सघने बोल ।  
सामाजिक सब अब हरि हरि बोल॥14॥

#### (6) भूषण द्विज

ब्रजावली (हिंदी) में लिखित भूषण द्विज का एकमात्र नाटक 'अजामिल उपाख्यान नाट' ही अब तक उपलब्ध है । 'भागवत' के षष्ठ स्कंध में वर्णित अजामिलोपाख्यान पर आधारित होने के बावजूद भूषण द्विज का यह नाटक कलात्मक उपलब्धि की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण है । इस अकेली कृति से ही भूषण द्विज को असंदिग्धरूपेण सफल नाटककार स्वीकार करना पड़ता है

(राग गौरी । ताल ज्योति)

तिन्हि दूते भ्रमय पापिक बिचारि ।  
भक्तक भए कौपवे तरतरि॥ध्रु॥  
रिनि रिनि सुनिए काचित काने ।  
हरिनाम लवे धुलि पलाइ से खने॥

जदि या कुकधा कहय न लवे नाम ।  
ताहाक बाँधिया जातनाक लागि आन॥  
यथार्थ प्रकारे जितो लवे नाम ।  
मोर वाक्य सुनि तुहु न पसिबि ग्राम॥  
भक्तक देखि तुहू अंतरि पलाइबि ।  
गोपालर चक्रे कांटे बुलिया चंचाईबि॥  
हरि भक्तर महिमा अद्भुत ।  
कहय भूषण द्विज काँपे यमदूत॥

## (7) दैत्यारि ठाकुर

दैत्यारि ठाकुर पूर्वोद्धृत रामचरण ठाकुर के प्रथम पुत्र थे। ये संस्कृत, असमी और ब्रजावली के विदग्ध पंडित थे। ब्रजावली (हिंदी) में इनके द्वारा रचित दो नाटक (1) 'नृसिंहयात्रा' और (2) 'स्यमंतक हरण' एवं थोड़े से फुटकल पद्य प्राप्त हैं। इन्होंने अपने नाटकों में स्वरचित संस्कृत श्लोकों को भी बीच-बीच में रखा है। डॉ. दशरथ ओझा ने दैत्यारि ठाकुर को 'शंकरदेव की नाट परंपरा का अंतिम प्रभावशाली नाटककार माना है, जो ऐतिहासिक दृष्टि से ठीक नहीं है। वस्तुतः इनके बाद भी लगभग तीन सौ वर्षों तक शंकरदेव की नाट परंपरा अचिराम रूप में चलती रही है। नाटकों में दैत्यारि ने भागवतीय कथा को प्रायः अपरिवर्तित रूप में ही रखा है। नाटकों में विनय गीतों की प्रधानता है। विनय के पदों में वैयक्तिकता की अपेक्षा सामान्य जनमानस की पीड़ा ही अधिक मुखर हुई है। उनका एक पद इस प्रकार है

जय जय परम पुरुष परमानंद नंदनंदन बनचारि ।  
जय भक्तन भय भंजन गोविंद आनंद विपिन बिहारि॥  
अधबक केसि धेनुक पूतना मल्लमारि कंसपालि ।  
कालिय निकालि संखचूड़ मारि गोपिजन प्रतिपालि॥  
भूमिक भार उतरल तारल नररूप धरि अविराम ।  
सुन साधुजन ह्यो सावधान कृष्णक गुण अनुपाम॥  
सोहि महेश्वर कृष्णक नाटक स्यमंत हरण आहे नाम ।  
सुन सभासद खंदोक आपद डाकि बोलहु राम राम॥

## (8) श्रीराम आता

श्रीराम आता कामरूप के प्रसिद्ध उपाध्याय घराने में उत्पन्न हुए थे एवं सन् 1611 ई. में श्रीगोपाल आता की मृत्यु के उपरांत कालाज्ञार सत्र (वैष्णवमठ) के अधिकार महंत बनाए गए थे। इस प्रकार इनका संबंध महापुरुषिया धर्म की काल संहति से था। ब्रजावली में इनके थोड़े फुटकल गीत और कई अंकिया नाट मिलते हैं। डॉ. विरिचिकुमार

बरुवा द्वारा संपादित 'श्रीराम आता आरू श्रीरामानंददेवर गीत' में इनके कुल उन्नीस गीत प्रकाशित हैं। इसी प्रकार डॉ. सत्येन्द्र नाथ शर्मा द्वारा संपादित 'अंकमाला' (असमी लिपि) में इनका एक नाटक 'सुभद्राहरण' भी मुद्रित है। इनके सुभद्राहरण शंकरदेव कृत 'रुक्मिणीहरण' से किंचित प्रभावित है। स्फुट गीतों की रचना में ही इनकी प्रतिभा अधिक खुली, खिली है। यशोदा के वात्सल्य विरह से संबंधित यहाँ एक पद उदाहृत किया जाता है।

यथा

आकुले पूछत चले जसोधा जननी॥  
काहाँ गैयो किसवा जाने मोर यदुमणि॥  
ना दिलौ यदुक लवनु रोष कय मन ।  
ना जानों के पये गैल बापु जीवधन॥  
आमिया पियायो निते नवनिधि घरे ।  
अपुतीर पुत्र जानो निलेकंस चोरे॥  
यदु यदु बुलि डाके पारे जसोमाई ।  
कालिंदी कूले खेलिते पाइले यदुराई ।  
आनदे भरत गला बानिया नंद जाया ।  
बोलय श्री राम प्रभूदूर करू माया॥

## (9) रामानंद द्विज

ये उपरिचर्चित श्रीराम आता के द्वितीय पुत्र और उन्हीं के शिष्य थे। पिता की मृत्यु के पश्चात् कालाज्ञार सत्र का सत्राधिकार इन्हें ही प्राप्त हुआ था। ब्रजावली में रामानंद द्विज द्वारा लिखित (1) स्फुट पद्य और (2) 'प्रेमकलह नाट' उपलब्ध है।

'श्रीराम आता आरू श्रीरामानंददेवर गीत' (असमी लिपि) में इनके कुल 78 गीत मुद्रित हुए हैं। इनके अधिकांश गीत कृष्णभक्तिपरक हैं, पर थोड़े से गीत राम विषयक भी हैं। विषयवस्तु और भावनिरूपण की दृष्टि से इनके अधिकांश गीत माधवदेव के गीतों के समान ही हैं। इन्होंने अपने गीतों में राधा को पात्रत्व प्रदान किया है। प्रसंगोद्भावना की दृष्टि से भी असमी वैष्णव कवियों में इन्होंने अपना वैशिष्ट्य स्थापित किया है। इनके कई गीतों पर 'गीतगोविंद' की भी छाप परिलक्षित होती है। निश्चय ही रामानंद माधवदेव की तरह सर्वथा मौलिक और प्रतिभासंपन्न कवि थे

वृंदावने खेले फागु नंदलाल ।  
शारदा सारंग हाते बाजे करताल॥  
संगे युवती किशोरी अपार ।



लाल जरद फागु मोर आउर आर॥  
गोपी आरू कानु करे प्रेम बिहार।  
कंकरि कवरि खसे गजमोति हार॥  
अनंग रसे भोलल जगत आधार।  
कहय रामानंद हरि करत बिहार॥

### (10) दीनगोपाल

दीनगोपाल कदाचित् सत्रहवीं शती के उत्तरार्ध एवं अठारहवीं शती के पूर्वार्ध के मध्य वर्तमान थे। ब्रजावली में रचित इनके दो नाटक (1) 'जरासंधवध' और (2) 'सीताहरण नाट' प्राप्त होते हैं। डॉ. सत्येन्द्रनाथ शर्मा द्वारा संपादित 'अंकमाला' में दोनों प्रकाशित हैं। उपलब्धि की दृष्टि से 'सीताहरण नाट' अधिक महत्त्व की रचना है। वस्तुतः दीनगोपाल में नाटककार की प्रतिभा अपेक्षया कम थी। उनमें उनका कविरूप ही अधिक प्रस्फुटित है

कौतुके जानकी माँगे आँजोरि करि हाथ।  
ओहि स्वर्णमृग मानिक खचित देहू मोहि रघुनाथ॥  
अयोध्या नगर माँझ ओहि चर्म पारि, बसिवाक भैल मन।  
न मागोहैं आन दियोँ ओहि दान, करओ कृपाकरण॥  
अतिशय इच्छा भैय अजि मोर।  
रामक चरण हृदये धरियो, दीनगोपाल एहू भाना॥

(सीताहरण नाट)

### (11) गोपाल

ब्रजावली में गोपाल कृत एक नाटक 'बलिछलन नाट' (अंकमाला, असमीया में प्रकाशित) उपलब्ध है। डॉ. सत्येन्द्रनाथ शर्मा के अनुसार इनका रचना काल अठारहवीं शती का उत्तरार्ध होना चाहिए। प्रो. बदनचंद्र शाइकिया, तुरा कॉलेज, तुरा (मेघालय) के अनुसार कवि गोपाल एवं उपरिचर्चित दीनगोपाल संभवतः एक ही व्यक्ति थे। किंतु इस विषय में अभी निश्चयपूर्वक कुछ नहीं कहा जा सकता। इन्होंने अपने नाटक की कथावस्तु शंकरदेव कृत 'बलिछलन' काव्य से ली किंतु नाटककार की मौलिकता सर्वथा स्तुत्य है। नाटक से एक गीत यहाँ उद्धृत है :

(राग गौरी। ताल दो मान)  
नाचतु ए शिव चरण चलाई रे।  
करत कोतुक नित भोलानाथ सर्व विभूषित काय रे॥ध्रु॥  
पंचानन नेत्र व्याघ्र चर्म शोभित हरषे देव दिया नाचे रे।

सर्पे अलंकार कटित बाघ छाल, डिन डिम डमरू बाजे रे॥  
भस्म विभूतिषत शिरे जटाजुट थमकि थमक भोला नाचे रे।  
मृदंग दुंदुभि बाजे, गंधर्व सब गावे बावे, नाचे रे॥  
पाक फिरि फिरि धरि पाव, आनदे पारंत देव रे।  
अगिभंगी रंग कोतुक, नाचतु ए सदाशिव रे॥

### (12) हरिकांत विप्र

हरिकांत विप्र द्वारा ब्रजावली में रचित एक नाटक 'स्यमंत हरण' (अंकमाला, असमी में प्रकाशित) प्राप्त होता है। डॉ. सत्येन्द्रनाथ शर्मा ने जिस प्रति के आधार पर इसे संपादित किया है उसमें न तो इसके लेखक का और न इसके रचना काल का कोई उल्लेख मिलता है। पर इधर बदन चन्द्र शाइकिया (तुरा, मेघालय) को इसकी एक पांडुलिपि मिली है जिसमें लेखक का नाम हरिकांत विप्र तथा रचना काल 1609 शकाब्द (1687 ई.) दिया है। रचना सामान्य ढंग की है और पूर्व चर्चित रामचरण ठाकुर के इसी नाम से प्राप्त नाटक से मिलती-जुलती है। बीच-बीच में लेखक ने स्वरचित संस्कृत श्लोक भी रखे हैं। उदाहरणस्वरूप सूत्रधार के वक्तव्य का एक वाक्य देखिए :

**सूत्रधार** एचर प्रकारे नारी सब बहुविधि तिरस्कार करिकहूँ,  
सत्रजितक गालि पारि, आर्तनाद करि क्रंदन कय रहल।

### (13) गोविंद द्विज

गोविंद द्विज कृत ब्रजावली में एक नाटक 'स्यमंतक हरण' गुवाहाटी विश्वविद्यालय के पांडुलिपि विभाग (पोथी सं. 505) में प्राप्त होता है। अभी तक इसका अध्ययन अनुशीलन नहीं हुआ है अतः इसके विषय में कुछ भी कहना असंगत होगा।

### (14) विश्वंभर द्विज

विश्वंभर द्विज कृत ब्रजावली में दो नाटक (1) 'शतस्कंध रावणवध', और (2) 'प्रभासयात्रा नाट' उपलब्ध है। 'अंकमाला' (असमीया) में ये दोनों नाटक प्रकाशित हैं, पर वहाँ लेखक अज्ञात बताया गया है। इधर, बदन चन्द्र शाइकिया (तुरा, मेघालय) को प्राप्त इनकी पांडुलिपियों में लेखक का नाम विश्वंभर द्विज मिला है। पांडुलिपियों से प्रकाशित नाटकों को मिलाने पर किंचित पाठ भेद भी दिखाई पड़ता है। इस विषय पर विस्तृत विचार कभी आगे किया जाएगा। यहाँ इतना उल्लेख्य है कि प्रथम नाटक की कथावस्तु 'अद्भुत रामायण' पर आधारित है और द्वितीय की 'महाभारत' की कथा पर। महाभारतीय कथा लेखक ने संभवतः मूल ग्रंथ से नहीं बल्कि राम सरस्वती

द्वारा असमीया में रचित 'महाभारत' से ली है। दोनों नाटक काफी बड़े हैं, पर उनमें नाट्य कौशल का निखार अपेक्षया कम है। गीत अनावश्यक रूप से लंबे-लंबे हैं। कला की दृष्टि से ये रचनाएँ सामान्य कोटि की हैं।

### (15) महींद्र द्विज

महींद्र द्विज अथवा महींद्र कदाचित् ईसा की अठारहवीं शती के उत्तरार्ध के लेखक हैं। ब्रजावली में इनकी एक नाट्य 'बोधोदय नाट' (अंकमाला, असमीया में प्रकाशित) प्राप्त है। कई दृष्टियों से यह पारंपरीण अंकिया नाटकों से भिन्न, संस्कृत के 'प्रबोधचंद्रोदय' की परंपरा का नाटक है। इस नाटक में असम के मोवामरिया विद्रोह को प्रतीकात्मक रूप में अंकित किया गया है। नाटककार ने प्रतीक का निर्वाह सफलतापूर्वक किया है। इसकी भाषा में ब्रजावली की अपेक्षा असमी का व्यवहार अधिक है। यहाँ भटिमा से कुछ पंक्तियाँ उद्धृत हैं :

*यह नमो नारायण नित्य निरंजन परम पुरुष राम ।  
सूर-मूनि वंदित पंकजनिंदित निर्मल गुणगण धामा॥  
जय जनार्दन दुर्जनगंजन निज-जन रंजन-देव ।  
त्रिभुवन वांछित पंकज लांछित अरुण चरण करूँ सेवा॥*

### (16) लक्ष्मीनाथ दास

लक्ष्मीनाथ अथवा लक्ष्मीनाथ दास द्वारा ब्रजावली में रचित एकमात्र नाटक 'कुमरहरण नाट' (अंकमाला में प्रकाशित) प्राप्त होता है। इसका एक अन्य नाम 'कृष्ण विजय' (सोहि कृष्णविजय नाटक, सुनह जत नर नारी) भी मिलता है। नाटकांत की भटिमा से विदित होता है कि इसका प्रथम अभिनय आहोम नरेश चंद्रकांत सिंह (शासन काल 1810-1818 ई.) के आदेश से हुआ था। इसकी रचना भी कदाचित् उन्हीं के आदेश पर हुई थी

*श्री चंद्रकांत राजा नृपति प्रधाना ।  
करावत ओहि नाट निरामाना॥*

उसी भटिमा में महापुरुष शंकरदेव को अवतार घोषित कर उनके प्रति सश्रद्ध नमन भी किया गया है

*श्री मंत शंकरदेव संत अवतार ।  
जेन्हकर कीर्ति गैला सकल जगत,  
सोहि करत मुक्ति मंगल विधाना॥*

इस नाटक में ऊषा अनिरुद्ध की प्रेमकथा प्रस्तुत की गई है। नाट्यकौशल की अपेक्षा कविकौशल ही इसमें अधिक है।

### (17) कैवल्यानंद

दिहिंग सत्र के पाँचवे सत्राधिकारी कैवल्यानंद संस्कृत, असमीया और ब्रजावली के विदग्ध पंडित थे। ब्रजावली में इनके द्वारा रचित फुटकल पद्य और एक नाटक 'कंसवध' (अंकमाला) में प्रकाशित) प्राप्त हैं। इनके दो अन्य नाटकों (क) 'श्री रामचन्द्र-जन्म नाटक' और (ख) 'अमृतमंथन नाटक' में गीत तो ब्रजावली में रखे गए हैं पर संवाद की भाषा संस्कृत गद्य है। इनकी भाषा तत्समप्रधान है। निःसंदेह कैवल्यानंद ब्रजावली के उत्तम कवियों में से हैं। यहाँ भटिमा से कुछ पंक्तियाँ उदाहरणार्थ दी जाती हैं :

*जय जय ब्रह्मा सत्य सनातन कारणौ ईश देव ।  
जय इच्छाबिहारी आदि अनादि सर्वसाक्षी करौ सेवा॥  
सोहि ईश्वर बहु गुण ईश करु लीला विधि विधान ।  
सोहि भगवंत अपने अवतरित प्रथम लैला पूतना प्राणा॥*

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि असम में हिंदी साहित्य का मौलिक सृजन मीननाथ से आरंभ तो अवश्य हुआ, पर आदिकाल में रचित साहित्य आज पूर्णतया अनुपलब्ध है किंतु उसके चार-पाँच सौ वर्ष पश्चात् श्रीमंत शंकरदेव द्वारा रचित बरगीतमध्यकाल में असम में रचित प्रथम हिंदी गीत (सन् 1488 ई.; मन मेरि रामचरणहि लागू; बरगीत संख्या18) से लेकर आगे चार सौ वर्षों तक लगातार ब्रजावली में मौलिक सृजन कार्य चलता रहा। उनमें से 16 प्रमुख साहित्यकारों एवं उनके 35 प्रमुख कृतियों एवं सैकड़ों फुटकल पद्यों का परिचय प्रस्तुत किया गया है। इसके अतिरिक्त सैकड़ों वैष्णव सत्रों, वैयक्तिक संग्रहों इत्यादि में आज भी ब्रजावली की पोथियाँ अनुसंधित्सुओं की प्रतीक्षा कर रही हैं। गौहाटी विश्वविद्यालय पुस्तकालय, कामरूप अनुसंधान समिति, इतिहास एवं पुरातत्त्व विभाग आदि में भी ब्रजावली की बीसों पोथियाँ पड़ी हैं जिनका परिचय पाठकों तक आना बाकी है। उत्साही अनुसंधाता बदन चन्द्र शइकिया (तुरा, मेघालय) ने केवल नगाँव जिले से ही इधर पचीसों नई पांडुलिपियाँ प्राप्त की हैं। वे अभी उनके अध्ययन में लगे हैं। अस्तु यह आशा करना असंगत नहीं है कि एकाध दशक में नवीन अनुसंधान के फलस्वरूप ब्रजावली के अनेक नए साहित्यकारों और उनकी कृतियों का उद्धार हो सकेगा। असंभव नहीं की उनकी संख्या अद्यावधि ज्ञात संख्या की दोगुनी हो जाए।

उपलब्ध कृतियों के अनुशीलन से यह स्पष्ट होता है कि कालांतर में जैसे-जैसे स्थानीय प्रयोग ब्रजावली में प्रविष्ट होते गए, स्थानीय भाषा असमीया के प्रति मोह बढ़ता गया, मध्य देश से संबंध क्षीण होता गया, धार्मिक आंदोलन का मध्यकालीन मौलिक स्वर आवृत्ति मात्र बनता गया और राजनीतिक संकीर्णता बढ़ती गई जैसे ही ब्रजावली अथवा हिंदी का रूप भी परिवर्तित होता गया। अंततः वह हिंदी से दूर होती

गई और असम में अंग्रेजों का आधिपत्य होने पर अंग्रेजी तथा बाङ्ला के बढ़ते हुए प्रचार के कारण एक दिन ऐसा आया जब ब्रजावली पूर्णतः विलुप्त हो गई उसमें सर्जनात्मक कार्य बंद हो गया।

एक बात और, ब्रजावली में रचित साहित्य की प्रायः सभी पांडुलिपियाँ असमी लिपि में हैं। इक्की-दुक्की प्राचीन पोथियों की लिपि शायद कैथाली (कैथी) भी है। लिपि एवं वर्तनी की भिन्नता के कारण भी ब्रजावली की रचनाएँ ऊपरी दृष्टि से केंद्रीय हिंदी के मानक रूप से किंचित् भिन्न प्रतीत होती है। फिर असमी उच्चारण से उनका प्रभावित होना तो स्वाभाविक ही था।

मध्यकाल की विकास यात्रा में यह उल्लेखनीय है कि असम में हिंदी साहित्य का न केवल मौलिक सृजन होता था, अपितु हिंदी के मानव ग्रंथों को असमीया में अनूदित करने की भी पहल इसी काल में हुई थी। उसे यदा-कदा राजकीय संरक्षण भी दिया जाता था। इस दृष्टि से आहोम नरेश गौरीनाथ सिंह (शासनकाल 1780-1795 ई.) के मंत्री पूर्णानंद बुढागोहॉई के संरक्षण में सन् 1794 में श्री सूर्यकांत विप्र द्वारा गोस्वामी तुलसीदासकृत रामचरित मानस का असमीया अनुवाद उदाहृत किया जा सकता है। इसका प्रकाशन पिछले वर्ष मानस चतुश्शती आयोजन क्रम में असम साहित्य सभा द्वारा कराया जा सकता है। जिस प्रकार का कार्य श्री सूर्यकांत विप्र ने अठारहवीं शती के अंत में किया था, उस प्रकार का कार्य पुनः यहाँ लगभग उसके डेढ़ सौ वर्ष बाद 1950 ई. के आसपास प्रारंभ हुआ है।

मध्यकाल के अंतिम चरण में सर्वसामान्य असमी जनता के मध्य हिंदी के प्रचार-प्रसार के लिए भी कार्य आरंभ हुआ था। सन् 1826 में असम पर अंग्रेजों का आधिपत्य हो जाने के परिणामस्वरूप यहाँ हिंदी की जगह बाङ्ला का प्रचार-प्रसार आरंभ हो गया। कुछ दूरदर्शी बुद्धिजीवियों ने हिंदी को गति देने की योजना भी बनाई थी। इसी दृष्टि से शिक्षा विषयक ग्रंथ निर्माण की ओर भी उनका ध्यान गया था। सर्वप्रथम यज्ञराम खारघरिया फुकन (सन् 1805-1837 ई.) ने 'हिंदी व्याकरण आरू अभिधान' नामक एक बृहत् ग्रंथ के लेखन का दायित्व सँभाला था। इसके निमित्त श्री फुकन ने कलकत्ता से प्रकाशित 'समाचार दर्पण' के 19 मई, 1832 के अंक में एक 'अनुष्ठान पत्र' भी प्रकाशित किया था। उससे विदित होता है कि श्री फुकन ने उक्त ग्रंथ में पहले 'बंगाक्षर' प्रयुक्त करने का विचार किया था, पर 'कस्यचिद् गुवाहाटी निवासिने' के प्रतिवाद एवं सुझाव के पश्चात् 'नागराक्षर' में लेखन आरंभ किया। उक्त ग्रंथ का लेखन सन् 1832 ई. आरंभ हुआ, पर उसके दो खंड ही पूर्ण हुए थे कि श्री फुकन की मृत्यु हो गई और वह ग्रंथ अधूरा ही रह गया। ग्रंथ के आरंभिक अंश से पता चलता है कि वह चार खंडों(क) वाक्यावली, (ख) अभिधान, (ग) व्याकरण और (घ) इतिहासमें पूरा होने वाला था, जिनमें से केवल वाक्यावली और अभिधान नामक खंड ही पूरे हुए थे। यहाँ वाक्यावली खंड से नमूने के तौर पर एक उदाहरण प्रस्तुत है।

यथा

- (क) *हिंदी तुम हमारी जवान बोल सकते हो?  
अंग्रेजी कैन यू स्पीक आवर लैग्वेज?  
असमिया तुमि आमार भाषा कबो पारा ने?  
बंगला तुमि आमादेर भाषाकहिते पार?*
- (ख) *आतप (तप धातु हइते), सनशाइन, रोद्र, धूप।  
उदाहरणसोहत ओढ़े पीत पट, स्याम सलोने गात।  
मनौ नीलमनि सैल पर आतप पर्यौ प्रभात॥  
अंग्रेजी ही, कृष्ण वीयर्स ऐन एलियैट यलो गारमेंट आन  
हिज डेलिकेट ब्लैक बॉडी। ऐज आन सैफायर  
माउन्टेन फाल्स द सनशाइन आव द मारनिंग।*

कहना नहीं होगा कि यह ग्रंथ उस समय पूर्ण होकर यदि प्रकाशित हो जाता तो कितना भव्य होगा। उदाहरण का चुनाव श्री फुकन ने मूलतः तुलसी, केशव और बिहारी की रचनाओं से किया है। इस प्रकार के शिक्षा ग्रंथ की योजना असम में आधुनिक काल में लगभग इसके एक सौ दस वर्ष बाद ही बन सकी। उक्त ग्रंथ के दूसरे छंद से पता चलता है कि ग्रंथ रचना की एक प्रेरणा 'नाम जिसमें नामी होवे' या 'नाम जाते हय ख्यातबर' भी रही है।

### (ख) आधुनिक साहित्य

असम में अंग्रेजी के राज्य की स्थापना, शिक्षा माध्यम के रूप में पहले बाङ्ला और पुनः अंग्रेजी की स्वीकृति, कोलकाता को भारत की राजधानी, प्रमुख व्यावसायिक केन्द्र शिक्षा की नगरी का गौरव प्राप्त होने और उसके साथ असम के दिनानुदिन बढ़ते हुए संपर्कअंत में अंतरांतीय संपर्क की भाषा के रूप में अंग्रेजी का बढ़ता हुआ चलन इत्यादि कारणों से असमी जनता में पिछली कई शताब्दियों से स्वाभाविक तौर पर विकसित पनपती चली आ रही हिंदी को जबर्दस्त आघात लगा। उसकी गति सर्वथा अवरुद्ध हो गई। मौलिक सृजन कार्य तो बंद हो गया, धीरे-धीरे भाषा का सामान्य ज्ञान भी समाप्त हो गया। इस शताब्दी में राष्ट्रीय जागरण के परिणामस्वरूप, तीसरे दशक से यहाँ के कुछ बुद्धिजीवियों का ध्यान हिंदी की ओर गया। सन् 1950 के आसपास, लगभग एक सौ वर्ष बाद, हिंदी में मौलिक लेखन कार्य शुरू हो सका। इसके पूर्व, मोटे तौर पर सन् 1925 से 1950 तक का समय नए सिरे से हिंदी प्रचार यानी मौलिक सृजनकार्य की पूर्वपीठिका मात्र रहा है।

असम में हिंदी प्रचार के सामान्यतः तीन चरण माने जा सकते हैं (1) स्वप्रेरणा, (2) प्रारंभिक अवस्था और (3) विकास एवं विस्तार। प्रथम दोनों चरण

गैर सरकारी प्रयास कहे जाएँगे। तीसरे चरण में गैरसरकारी प्रयत्नों के साथ-साथ सरकारी प्रयत्न भी हुए हैं।

प्रथम चरण यानी स्वप्रेरणा युग के एकमात्र कार्यकर्ता थे भुवनचन्द्र गौ (सन् 1887-1940 ई.)। वे स्वदेशप्रेम, स्वदेशी शिक्षा और स्वावलंबन के मूर्तिमान आदर्श थे। अपने प्रयत्नों से सन् 1918 में बकता ग्राम में स्थापित असम पोलिटिकेनिक इंस्टिट्यूशन में उन्होंने सन् 1926 से अन्य विषयों के साथ-साथ पहली बार हिंदी का विधिवत् अध्ययन आरंभ कराया। यहाँ से हिंदी का प्रचार कार्य प्रारंभ हुआ।

द्वितीय चरण (सन् 1934-1948) के सूत्रधार हैं बाबा राघवदास (सन् 1896-1958)। उनके प्रयत्नों से ही तीन असमी तरुणोंरजनीकांत चक्रवर्ती, नवीनचंद्र कलिता और हेमकांत भट्टाचार्य ने पहली बार हिंदी अध्यापन शिविर, वर्धा में प्रशिक्षण लिया और जून, 1938 ई. से हिंदी प्रचार कार्य में प्रत्यक्ष योगदान करना आरंभ किया। 3 नवंबर सन् 1938 को असम हिंदी प्रचार समिति की स्थापना हुई। वही समिति आज 'असम राष्ट्रभाषा प्रचार समिति' के नाम से कार्य कर रही है। द्वितीय महासमर (जिसका असम पर प्रत्यक्ष प्रभाव पड़ा था) और सन् 1942 के आंदोलन के कारण हिंदी कार्य लगभग बंद हो गया, पर सन् 1945 में महात्मा गाँधी के असम भ्रमण के पश्चात् उसे फिर नवीन प्रेरणा प्राप्त हुई।

तीसरा यानी विस्तार चरण सन् 1948 से प्रारंभ होता है। इस अवधि में हिंदी प्रचार कार्य में गति तो आई ही, मौलिक लेखन भी शुरू हुआ। सन् 1960 ई. में असम के दो कॉलेजों में पहली बार हिंदी शिक्षण की व्यवस्था शुरू की गई। सन् 1970 में गुवाहाटी विश्वविद्यालय में स्वतंत्र हिंदी विभाग भी खुल गया है। पिछले 25 से 30 वर्षों में असम के छोटे-बड़े अनेक लेखकों ने मौलिक लेखन के द्वारा हिंदी साहित्य की श्रीवृद्धि में योगदान किया है जिसका संक्षिप्त परिचय यहाँ प्रस्तुत किया जाता है।

असम में मौलिक लेखन दो प्रकार का हुआ है शिक्षा प्रचार विषयक और साहित्यिक। प्रथम प्रकार के अंतर्गत मूलतः व्याकरण, कोश, स्वयंशिक्षक एवं विभिन्न कक्षाओं के उपयुक्त पाठ्य ग्रंथ आते हैं। असम-राष्ट्रभाषा-प्रचार समिति ने अब तक इस प्रकार के लगभग दो सौ पुस्तकों का प्रकाशन किया है।

ललित साहित्य के अंतर्गत पद्य और गद्य की विभिन्न विधाओं में अद्यावधि अनेक कृतियों का विभिन्न स्थानों से प्रकाशन हुआ है। किंतु अभी तक इस प्रकार का अधिकांश लेखन विभिन्न पत्र-पत्रिकाओं में ही बिखरा पड़ा है। पद्य के अंतर्गत गीत अपेक्षया कम लिखे गए हैं। कविता और प्रबंधात्मक रचनाओं का प्रणयन अधिक हुआ है। गद्य रूपों में लेख और निबंध संख्यात्मक दृष्टि से अधिक सामने आए हैं। उनमें विषयवस्तु की विविधता और विभिन्नता पर्याप्त मात्रा में है। कथा साहित्य का सृजन अपेक्षया कम हुआ है। संस्मरण, जीवनी, रेखाचित्र एवं रिपोर्ताज भी पर्याप्त संख्या में प्रकाशित हुए हैं। नाटकों में एकांकी एवं रेडियो रूपक का लेखन अपेक्षया अधिक

हुआ है। कुछ उपाधिपरक शोध ग्रंथ भी सामने आए हैं। तात्पर्य यह है कि पिछले 30 वर्षों में असम में हिंदी के सर्जनात्मक साहित्य में उत्साहवर्धक प्रगति हुई है। साहित्य के विभिन्न रूपों के सर्जक हिंदी और हिंदीतर भाषी दोनों ही हैं, जिनमें से हम कतिपय स्थापित हिंदीतर भाषी लेखकों और उनके कार्यों का विवरण प्रस्तुत कर रहे हैं

**(1) हरिनारायणदत्त बरुवा :** ये मूलतः असमीया के लेखक थे। हिंदी में इनके लिखे दो निबंध प्राप्त हैं। इनका वास्तविक महत्त्व अनुवादक-संपादक के रूप में है। इनकी संपादित दो पुस्तकें (1) 'बरगीत' (2) 'चित्र भागवत', इन्हें अमर रखेंगी। चित्र भागवत असम में हिंदी प्रकाशन की अन्यतम उपलब्धि है। इसमें शंकरदेव के 'महाभागवत' वर्णित शिशु एवं किशोर कृष्ण की लीलाओं से संबंधित 312 प्लेटें हैं और उनके नीचे हिंदी व असमी में शंकरदेव की पंक्तियाँ मुद्रित हैं।

**(2) विचित्रनारायणदत्त बरुवा :** इन्होंने मौलिक लेखन के साथ-साथ असमी से हिंदी में अनुवाद का भी कार्य किया है। मौलिक पुस्तकें हैं (1) 'शब्द संग्रह' और (2) 'असम गौरव'। दूसरी पुस्तक का महत्त्व अधिक है। उसमें असम के कतिपय ऐतिहासिक चरित्रों का निरूपण हुआ है। इसके साथ ही इन्होंने असमी के मध्यकालीन कवि राम सरस्वती कृत 'भीमचरित' को भी हिंदी में अनूदित प्रकाशित किया है।

**(3) कमलनारायण देव :** ये असम राष्ट्रभाषा प्रचार समिति के प्रथम संचालक थे। हिंदी में इन्होंने कविता और निबंध लिखे हैं जो पत्र-पत्रिकाओं में बिखरे पड़े हैं। इनके लेखन में मार्क्सवाद के प्रति प्रतिबद्धता मिलती है। असमीया में वामपंथी काव्यांदोलन के प्रवर्तन का श्रेय भी इन्हें ही दिया जाता है। इनका सर्वाधिक महत्त्व इस बात को लेकर है कि इन्होंने अपने व्यवहार कौशल से ही उन दिनों असमीया भाषी तरुणों को हिंदी अध्ययन के प्रति प्रेरित किया था।

**(4) धरणीकांत देव शर्मा :** इनकी एक पुस्तक कामरूप कामाख्या प्रकाशित हुई है। यह मूलतः तीर्थ विवरण साहित्य है जिसमें असम के प्रसिद्ध शक्तिपीठ कामाख्या का इतिहास और पौराणिक आख्यान वर्णित हैं। भौगोलिक परिवेश के यथार्थ वर्णन के कारण पुस्तक महत्त्वपूर्ण बन पड़ी है।

**(5) नवीनचंद्र कलिता :** असम के जिन तीन तरुणों ने सर्वप्रथम हिंदी प्रचार का विधिवत् दायित्व संभाला था उनमें ये भी एक हैं। इन्होंने समिति द्वारा प्रकाशित अनेक पाठ्य पुस्तकों का लेखन कार्य किया है। इसके अतिरिक्त इन्होंने छिटपुट निबंध भी लिखे हैं।

**(6) रजनीकांत चक्रवर्ती :** असम में राष्ट्रभाषा हिंदी का प्रचार कार्य एवं असम राष्ट्रभाषा प्रचार समिति की विभिन्न पदों का दायित्व संभालते हुए इन्होंने हिंदी में दशाधिक निबंधों और तीन पुस्तकों (1) 'श्रीशंकर देव', (2) 'विद्यार्थी गाँधी जी' और (3) 'राष्ट्रभाषा प्रचार की झाँकी' का प्रणयन किया है। प्रथम दोनों पुस्तकें किशोरोपयोगी हैं। असम में राष्ट्रभाषा का अनवरत प्रचार करने के कारण, इन्हें प्रथम हिंदी विश्व सम्मेलन, नागपुर 1975 में पुरस्कृत किया गया था।



(7) **चक्रेश्वर भट्टाचार्य** : ये कमलनारायण देव की मित्र मंडली के लेखक थे। हिंदी की अपेक्षा असमीया साहित्यकार के रूप में वे अधिक प्रख्यात हैं। हिंदी में इन्होंने कई मौलिक लेख लिखे हैं। इसके अतिरिक्त इन्होंने 'बाणभट्ट की आत्मकथा' को असमी में तथा असमी उपन्यास 'जीवनर बाटत' को हिंदी में अनूदित किया है। असमीया की अनेक कविताओं का भी इन्होंने हिंदी में अनुवाद किया है।

(8) **हरेंद्रनाथ बरा** : ये राष्ट्रभाषा हिंदी के अनन्य प्रचारक और हिंदी शिक्षक रहे हैं। उनकी एक पुस्तक 'लिंग निर्णय' प्रकाशित है। इसके अतिरिक्त इन्होंने बहुत से लेख और पचीसों कविताएँ लिखी हैं जो 'राष्ट्रसेवक', 'प्राच्य भारती' इत्यादि के विभिन्न अंकों में बिखरी पड़ी हैं। इनकी कविताओं का विषय राष्ट्रप्रेम और बेकारी से उत्पन्न समस्या है।

(9) **छगनलाल जैन** : श्री जैन असम में हिंदी के प्रचारात्मक और रचनात्मक कार्य से संबद्ध रहे हैं। इनकी प्रकाशित कृतियों में (1) 'हँसते हँसते जीना' (कहानी संग्रह), (2) 'इंसान की खोज' (ध्वनि नाटक), (3) 'संघर्ष' (नाटक), (4) 'राह और रोड़े' (उपन्यास), (5) 'राष्ट्रभाषा व्याकरण शिक्षा' (6) 'राष्ट्रभाषा शब्द संग्रह' और (7) 'राष्ट्रभाषा अभिधान' प्रमुख हैं। इन्होंने अनेक निबंध भी लिखे हैं जो विभिन्न संदर्भ ग्रंथों में संकलित हैं। 'नीलमणि फुकन : मेरी नजरों में' इनके द्वारा लिखा गया प्रसिद्ध संस्मरण है। मौलिक लेखन के अतिरिक्त इन्होंने हिंदी से असमी और असमी से हिंदी में अनुवाद भी किए हैं। साप्ताहिक पत्रिका 'पूर्वज्योति' के ये संपादक और प्रकाशक हैं। सब मिलाकर श्री जैन हिंदी के उत्तम साहित्यकार हैं। इनकी रचनाएँ प्रचारात्मक स्वर की प्रबलता होने के बावजूद असम की मिट्टी की महक लिए हैं।

(10) **लोकनाथ भराली** : श्री भराली मूलतः निबंधकार हैं। इनकी पुस्तक 'आधुनिक मानस का संकट' भारत सरकार द्वारा पुरस्कृत हुई है। इनके कई निबंध विभिन्न संदर्भ ग्रंथों में संकलित हैं। कुछ निबंध 'राष्ट्रसेवक' के विभिन्न अंकों में बिखरे हुए हैं। इनके अतिरिक्त इन्होंने असमीया से कई पुस्तकें अनूदित की हैं और कुछ पाठ्य-पुस्तकें भी तैयार की हैं।

(11) **सोनेश्वर दास** : श्री दास ने कुछ निबंध लिखे हैं अवश्य, पर निबंधकार की अपेक्षा कोशकार के रूप में ही ये अधिक समादृत रहेंगे। 'आदर्श असमीया हिंदी शब्दकोश' इनकी उपलब्धि है।

(12) **महेश्वर महंत** : रचनात्मक कार्य की अपेक्षा ये राष्ट्रभाषा के प्रचारात्मक कार्य से अधिक संबद्ध रहे हैं। इनके कुछ निबंध 'राष्ट्रसेवक' के विभिन्न अंकों में प्रकाशित हुए हैं और वर्षों तक इन्होंने 'राष्ट्रसेवक' का संपादन भी किया है।

(13) **बापचंद्र महंत** : श्री महंत समर्थ आलोचक और कुशल कवि हैं। ये सही अर्थों में हिंदी के निःस्वार्थ साधक हैं। इनकी एक कविता पुस्तक 'देश की पुकार' प्रकाशित है। इसके अतिरिक्त इन्होंने अनेक गंभीर आलोचनात्मक और गवेषणात्मक

निबंध लिखे हैं जो हिंदी की विभिन्न पत्र-पत्रिकाओं में प्रकाशित हो चुके हैं। 'विश्व भारती पत्रिका', 'परिषद् पत्रिका' (पटना), 'राष्ट्रसेवक' इत्यादि में ये लगातार लिखते रहते हैं। इन्होंने 'राष्ट्रवाणी' (पूणे) के 'महापुरुष शंकरदेव विशेषांक' का संपादन किया था। इनका एक वृहद ग्रंथ 'असम में भागवत धर्म और महापुरुष शंकरदेव' भी उपलब्ध है। इनकी आलोचक प्रतिभा सजग और पैनी है। असम के साहित्य और उसकी संस्कृति को हिंदी पाठकों तक पहुँचाना ही इनके लेखन का उद्देश्य है। श्री महंत निश्चय ही असमीया भाषी हिंदी साहित्यकारों की प्रथम पंक्ति में आते हैं।

(14) **तरुण आजाद डेका** : श्री डेका ने कई निबंध एवं एक इतिहास पुस्तक 'असम का इतिहास' भी लिखी है, पर मूलतः वे नाटककार हैं। इनकी प्रसिद्ध नाट्य कृतियाँ हैं (1) 'कवच', (2) 'इंसान' (नाटक), (3) 'नई दुनिया' (एकांकी), (4) 'मूला गाभरू', (5) 'बरगीत', (6) 'बिहू', (7) 'गोवालपरिया लोकगीत' (8) 'मणिपुर', (9) 'कामरूप', (10) 'मीराबाई', (11) 'रानी दुर्गावती', (12) 'रुमिणी', (13) 'शोणित कुँबरी' (रेडियो रूपक) इत्यादि। इनके अतिरिक्त श्री डेका ने सैकड़ों नाटकों को असमी से हिंदी में अनूदित भी किया है। ये सभी आकाशवाणी के विभिन्न केन्द्रों से प्रसारित हुए हैं। इनका 'कवच' नाटक भारत सरकार से पुरस्कृत हुआ है। इस प्रकार श्री डेका असमी भाषी हिंदी नाटककारों में मौलिक लेखन की दृष्टि से अग्रगण्य हैं। इनके अधिकांश नाटक 'आकाशवाणी रेडियो संग्रह' की वार्षिक जिल्दों में सुरक्षित हैं।

(15) **चित्र महंत** : चित्र महंत आरंभ से ही राष्ट्रभाषा के प्रचारात्मक और रचनात्मक कार्य से संलग्न रहे हैं। ये मूलतः निबंधकार और आलोचक हैं। इनकी मुख्य मौलिक कृतियाँ हैं (1) 'असमीया साहित्य और साहित्यकार', (2) राष्ट्रभाषा : विकास, प्रचार और प्रसार', (3) 'लोकप्रिय गोपीनाथ बरदलै' और (4) 'असम'। इनके निबंध 'राष्ट्रसेवक' के विभिन्न अंकों में बिखरे पड़े हैं। कई वर्षों तक इन्होंने 'राष्ट्रसेवक' का संपादन और हिंदी से असमी तथा असमी से हिंदी में कई उपन्यासों और एक आलोचनात्मक ग्रंथ का अनुवाद भी किया है। इधर इन्होंने असमी की कुछ कविताओं को हिंदी में अनूदित किया है। वस्तुतः महंत जी हिंदी के निष्ठावान सेवक हैं। 'असमीया साहित्य और साहित्यकार' जैसी वृहदाकार पुस्तक का प्रणयन कर इन्होंने हिंदी पाठकों के समक्ष पहली बार असमीया साहित्य का विस्तृत इतिहास प्रस्तुत किया है। इन्होंने दो-तीन रिपोर्ताज भी लिखे हैं जिनमें 'मिजो' काफी प्रसिद्ध है।

(16) **शंकरलाल शर्मा** : इनकी एक मात्र मौलिक नाट्य कृति है 'सती जयमती'। इसका प्रतिपाद्य तरुण आजाद डेका के 'कवच' नाटक जैसा ही है। विषयवस्तु और घटना के बावजूद प्रतिपाद्य में साम्य का कारण है दोनों नाटकों का नायिका प्रधान होना। कुछ असमीया कहानियों को इन्होंने हिंदी में अनूदित किया है।

(17) **सुमति तालुकदार** : श्रीमती तालुकदार ने कई संस्मरण और निबंध लिखे हैं जो 'राष्ट्रसेवक' के विभिन्न अंकों में प्रकाशित हैं। इनके अतिरिक्त इन्होंने असमी



से हिंदी में कई अनुवाद भी किए हैं जिनमें 'साहित्य कला' (काका नीलमणिकृत) अधिक प्रख्यात है।

**(18) सीता देवी** : श्रीमती सीता देवी ने संस्मरण और निबंध लिखे हैं। इन्होंने असमी से हिंदी में एक किशोरोपयोगी उपन्यास अनूदित किया है और कुछ पाठ्य पुस्तकें भी लिखी हैं।

**(19) मोती मदरासी** : इनकी विभिन्न पत्रिकाओं 'सरिता', 'मुक्ता', 'सुप्रभात', 'मनोरमा', 'जनरुचि', 'जनरुचि', 'साप्ताहिक हिन्दुस्तान', 'कादंबिनी' इत्यादिमें अब तक कुल 55 कहानियाँ प्रकाशित हो चुकी हैं; कई कहानियाँ आकाशवाणी से प्रसारित हुई हैं। इनका मूल नाम एस. मुत्तु सुब्रह्मण्यम है। वे सभी कहानियाँ प्रायः हास्य-व्यंग्य से आपूरित हैं। कई कहानियों 'भोमाई काटा गढ़', 'पांडू की सड़क' इत्यादि में असम की मिट्टी की महक बड़ी मोहक है। हास्य-व्यंग्य-परक कहानीकारों में इनका विशिष्ट स्थान है।

**(20) जीतेन्द्रनाथ खाओंद** : डॉ. खाओंद आलोचक और निबंधकार हैं। 'हिंदी और असमीया के उपन्यासों में तुलनात्मक अध्ययन' इनका शोध ग्रंथ है। 'शहीद तर्पण', 'हिंदी और असमी मुहावरे' इत्यादि इनकी मुख्य कृतियाँ हैं। इन्होंने कुछ पाठ्य पुस्तकें भी तैयार की हैं। इनके दशाधिक निबंध 'विश्व भारती', 'प्राच्य भारती', 'राष्ट्रसेवक' आदि पत्रिकाओं में प्रकाशित हैं।

**(21) नरनाथ भट्टाचार्य** : इनके अनेक निबंध 'राष्ट्रसेवक' में प्रकाशित हुए हैं। इन्होंने डॉ. वाणीकांत काकति की पुस्तक 'पुरनी असमीया साहित्य' का अनुवाद किया है। ये मूलतः निबंधकार हैं।

**(22) राही कौडिन्य** : राही कौडिन्य आलोचक और निबंधकार हैं। इन्होंने कई अंकिया नाटकों को संपादित कर प्रकाशित कराया है। इनके निबंध प्रायः अछूते और नवीन विषयों से संबद्ध हैं। असम तथा अरुणाचल की कतिपय वन जातियों, विशेषतः खामति, के विषय में इन्होंने प्रामाणिक कार्य किया है। इनकी पुस्तक *खामति साहित्य और समाज* भी प्रकाशनार्थ तैयार है।

**(23) कमल चन्द्र बायन** : श्री बायन के कई संस्मरण और निबंध 'राष्ट्रसेवक', 'धर्मयुग' इत्यादि में प्रकाशित हुए हैं। असमी साहित्य और साहित्यकारों के विषय में इन्होंने कई उत्तम निबंधों की रचना की है।

**(24) नवारुण वर्मा** : श्री वर्मा पेशे से कलम के मजदूर हैं, पर सिपाहीगिरी भी इन्हें सँभालनी पड़ती है। इस प्रदेश के बहुत कम ही ऐसे साहित्यकार होंगे जिनकी लिखावट पर इनकी लाल स्याही न फिरी होगी। रुचि से ये कवि हैं, पर निबंध, कहानी, उपन्यास, रिपोर्ताज आदि विभिन्न विधाओं पर भी इन्होंने कलम चलाई है। इनकी मौलिक कृतियों में (1) 'लचित बरफुकन', (2) 'युगवेदना शंकरदेव', (3) 'सिंधु मन्थन', (4) 'सती जय मती', (5) 'ब्रह्मपुत्र का नाविक', (6) 'कविता संकलन', (7)

'कहानी संकलन' इत्यादि प्रख्यात हैं। इनके अतिरिक्त इन्होंने असमीया के कई उपन्यासों, कई कहानियों और कविताओं के भी अनुवाद किए हैं। देश की विभिन्न पत्रिकाओं में इनके लेख प्रायः छपते रहते हैं। इनके काव्य में असम का इतिहास तो मुखर हुआ है, हिंदी के भी अछूते विषयों से संबंधित साहित्य की वृद्धि हुई है। 'लचित बरफुकन' राष्ट्रीय भावों से ओत-प्रोत नायक-प्रधान काव्य है और 'सती जयमती' नायिका प्रधान। 'सिंधु मन्थन' पौराणिक आख्यान पर आधारित प्रतीकात्मक काव्य है।

**(25) परेशचन्द्र देव शर्मा** : शर्माजी निबंधकार हैं। 'राष्ट्रसेवक' में इनके कई निबंध बिखरे हैं। इन्होंने असमी कविताओं को हिंदी में अनूदित किया है और कई पाठ्य पुस्तकें भी तैयार की हैं।

**(26) रमेश शर्मा** : श्री शर्मा के कई संस्मरण, रिपोर्ताज और निबंध प्रकाशित हुए हैं। असम प्रदेश और यहाँ के संस्कृति से हिंदी पाठकों को परिचित कराना इनके लेखन का उद्देश्य है।

**(27) केशदा महंत** : श्रीमती महंत असमी, संस्कृत और हिंदी की विदुषी हैं। ये मूलतः आलोचक और निबंधकार हैं। इनके अनेक लेख 'परिषद पत्रिका', 'हिन्दू विश्व', 'पांचजन्य', 'राष्ट्रसेवक' इत्यादि में प्रकाशित हुए हैं। इनके निबंधों में आलोचना और गवेषणा साथ-साथ चलती है। अपने पति बापचंद्र महंत की तरह ये भी सच्ची साहित्य साधिका हैं।

**(28) पृथारानी दे** : डॉ. (श्रीमती) दे आलोचक और निबंधकार हैं। 'प्रेमचंद्र एवं शरच्चंद्र के कथा साहित्य के नारी पात्रों का तुलनात्मक अध्ययन' इनका शोध प्रबंध है। इनकी कई समीक्षाएँ आकाशवाणी से प्रसारित हुई हैं।

**(29) नदेश्वर राज मेधी** : इन्होंने "सूर्यकान्त त्रिपाठी 'निराला' और अंबीकागिरी रायचौधुरी के विशेष संदर्भ में हिंदी और असमीया के आधुनिक काव्यों का अध्ययन" नामक शोध प्रबंध प्रस्तुत कर पीएच.डी. की उपाधि प्राप्त की है।

**(30) लक्ष्यधर पाठक** : पाठक जी ने 'हिंदी और असमी कहानियों की प्रवृत्तियों का तुलनात्मक अध्ययन' नामक शोध प्रबंध पर पीएच. डी. की उपाधि प्राप्त की है।

**(31) भूपेन्द्र नाथ रायचौधुरी** : श्री रायचौधुरी प्रदेश के उदीयमान हिंदी साहित्यकारों में अत्यन्त उत्साही एवं अग्रणी हैं। ये स्वभाव से आलोचक और रुचि से निबंधकार हैं। 'भक्ति रत्नावली', 'संक्रांति के बीच युवा पीढ़ी', 'महापुरुष शंकरदेव : एक चुनौती' इत्यादि इनके उत्तर निबंध एवं कविताएँ विभिन्न पत्र-पत्रिकाओं में प्रकाशित हैं।

उपर्युक्त प्रमुख लेखकों के अतिरिक्त और कई छोटे-बड़े नाम लिए जा सकते हैं। इस दृष्टि से निबंध लेखकों में मनेश्वर बरा, गोलोक चन्द्र वैश्य, म. अब्दुल बशर फरूक, अहमद अली शाह एवं संस्मरण और रिपोर्ताज के लेखकों में इंद्रजीत सिंह,

नकुल राम मेच, निराला भराली, निरुपमा फुकन, स्वर्ण महंत, कुमारी बंती चलिहा, आइति ग्रेटिश लिंगवा इत्यादि के नाम लिए जा सकते हैं। इनमें से कई लेखक एक साथ अनेक विधाओं में भी लिखते हैं। समग्रतः विचार करने पर असम प्रदेश के वर्तमान लेखकों में से ऐसे कई नाम छँटे जा सकते हैं जिन्होंने मौलिक लेखन में अपना विशिष्ट स्थान बना लिया है। इस दृष्टि से, छगनलाल जैन, नवारुण वर्मा, बापचन्द्र महंत, तरुण आजाद डेका, लोकनाथ भरलि, जीतेन्द्रनाथ खाओंद, राही कौडिन्य, चित्र महंत और भूपेन्द्रनाथ रायचौधुरी के नाम उल्लेख्य हैं। महिलाओं में श्रीमती केशदा महंत से हिंदी को काफी आशा है। इनमें भी नवारुण वर्मा और बापचन्द्र अग्रणी हैं। पिछले तीस वर्षों में हिंदी के लिए यह कम उपलब्धि नहीं है।

असम के प्रादेशिक साहित्य का इतिहास अब तक अधूरा रहेगा जब तक यहाँ के लेखकों को प्रेरित प्रोत्साहित करने वाली पत्रिकाओं एवं सभा समितियों की चर्चा न की जाए। असम में पहला पत्र सन् 1939 ई. में डिब्रूगढ़ से 'नव जागृति' (साप्ताहिक) प्रकाशित हुआ किंतु इसके कुछ अंक ही निकले थे कि द्वितीय विश्व युद्ध छिड़ गया और प्रायः संपूर्ण असम फौजी छावनी में परिणत कर दिया गया। स्कूल-कॉलेजों के भवन सैनिक बैरकों में बदल दिए गए। सभी आवश्यक वस्तुओं का अभाव हो गया। ऐसी स्थिति में न केवल हिंदी का यह नन्हा-सा पत्र बल्कि असमीया और अंग्रेजी की भी सभी पत्र-पत्रिकाएँ बंद हो गईं। उसके पश्चात् सन् 1946 ई. के साप्ताहिक 'अकेला' का प्रकाशन (पहले कलकत्ता से पुनः) तिनसुकिया से शुरू हुआ। उस समय से लेकर आज तक इस प्रदेश में छोटी बड़ी कुल 35 पत्र-पत्रिकाओं का प्रकाशन हुआ है। इसमें से अधिकांश पत्रिकाएँ अल्प जीवित ही रही हैं। केवल 'अकेला' (तिनसुकिया, संपादक विश्वनाथ गुप्त), 'पूर्व ज्योति' (गुवाहाटी, संपादक छगनलाल जैन), 'राष्ट्रसेवक' (गुवाहाटी, असम राष्ट्रभाषा प्रचार समिति), और 'बालार्क' (सिलचर, संपादक अशोक वर्मा) जैसी पत्रिकाएँ ही थोड़े बहुत विराम से लगातार चल रही हैं। इन पत्रिकाओं में 'बालार्क' ने प्रकाशन का दसवाँ वर्ष पूरा कर लिया है। शेष पत्रिकाओं में 'अकेला' ने अपने प्रकाशन के 32 वर्ष, 'राष्ट्रसेवक' ने 29 वर्ष और 'पूर्व ज्योति' ने अब तक 17 वर्ष पूरे किए हैं। हिंदीतर प्रदेश में इतनी लंबी अवधि तक किसी पत्र का लगातार प्रकाशित होते रहना निश्चय ही महत्वपूर्ण घटना है। बीच-बीच में 'संवाद' (मासिक, गुवाहाटी, संपादक चंद्रभूषण शर्मा 'भूषण'), 'प्रभात' (मासिक, तिनसुकिया, संपादक पुष्पराम 'कठिन') और 'प्राच्य भारतीय' (मासिक, गुवाहाटी, संपादक कृष्णनारायण प्रसाद 'मागध') के प्रकाशन ने असम में हिंदी पत्रकारिता के स्तर को न केवल श्रेष्ठता प्रदान की है बल्कि स्थायी मूल्य की सामग्री प्रकाशित कर भाषा साहित्य का उपकार भी किया है।

सभा समितियों में प्रत्येक दृष्टि से अग्रगण्य असम राष्ट्रभाषा प्रचार समिति, गुवाहाटी (स्थापित 1938 ई.) ने हिंदी के प्रचारात्मक और रचनात्मक दोनों प्रकार के

कार्यों को बड़े दायित्व के साथ निभाया है, जिसके लिए समिति परिवार अशेष धन्यवाद का अधिकारी है। उत्तर-पूर्व सीमांत रेलवे के कर्मचारियों की गोष्ठी 'भारती' ने भी हिंदी साहित्य की श्रीवृद्धि में योगदान किया है। समन्वय, ज्ञान और एकता के आदर्श से अनुप्रेरित राष्ट्रभाषा साहित्य परिषद्, गुवाहाटी द्वारा परिचालित रचनात्मक कार्यक्रम भी हिंदी साहित्य के विकास के लिए निश्चय ही उपयोगी सिद्ध होंगे, ऐसा मेरा विश्वास है। इसके अतिरिक्त 'उद्बोधिनी', 'विद्यापति गोष्ठी', पूर्वांचल साहित्य परिषद् आदि के सामयिक आयोजनों ने भी हिंदी में मौलिक सर्जनात्मक कार्य के लिए वातावरण तैयार करने में सदा योगदान दिया है।

नागालैंड भाषा परिषद ने पूर्वोत्तर के सभी राज्यों के कोश, व्याकरण, स्वयंशिक्षक, लोक साहित्य आदि की 128 पुस्तकों का प्रकाशन कराया है, जिसमें असम की भाषाएँ भी सामिल हैं।

असम जैसे हिंदीतर प्रदेश में संपन्न साहित्य सृजन एवं हिंदी के प्रचार-प्रसार पर विचार करने पर यह निर्विवाद कहा जा सकता है कि राष्ट्रभाषा के प्रति यह मूक सेवा परिणाम में अल्प होते हुए भी भावात्मक एकता की दृष्टि से निश्चय ही स्तुत्य है। यहाँ ध्यातव्य है कि विभिन्न संस्थाओं एवं लोगों द्वारा हिंदी लेखन एवं पठन-पाठन को प्रोत्साहित करने का कार्य अनवरत रूप से चल रहा है। इसलिए यहाँ हिंदी के उत्तरोत्तर विकास की स्थिति संतोषप्रद है।

## संदर्भ

1. ए लिंक्विस्टिक सर्वे ऑफ इण्डिया, वॉल्यूम9, पाठ1, पृ. 44
2. रजत जयंती ग्रंथ, राष्ट्रभाषा प्रचार समिति, वर्धा, पृ. 210
3. राष्ट्रसेवक, अगस्त, 1971, पृ. 211
4. रजत जयंती ग्रंथ, (1962) राष्ट्रभाषा प्रचार समिति, वर्धा, पृ. 214
5. ब्रजावली भाषा पर विस्तृत अध्ययन के लिए द्रष्टव्य  
क. ब्रजावली पद्य साहित्य, कृष्णनारायण 'मागध'।  
ख. शंकरी संस्कृति अध्ययन, सं. भवप्रसाद चलिहा, पृ. 59-110
6. प्राचीन भाषा नाटक संग्रह, पृ. 140
7. विशेष के लिए द्रष्टव्यक. माधवदेव के नाटक, प्राच्य भारतीय प्रकाशन, गुवाहाटी,  
ख. प्राचीन भाषा नाटक संग्रहडॉ. दशरथ ओझा।  
ग. ब्रजावली पद्य साहित्य, सं. कृष्णनारायण 'मागध',  
घ. असम में वैष्णव मत एवं साहित्यदिनेश कुमार चौबे

## आदर्श पत्रकारिता के विविध आयाम

शशि कांत राय\*

पत्रकारिता को अखंड निष्ठा का परिणाम कहना ही श्रेयस्कर प्रतीत होता है। पत्रकारिता साधन नहीं, अपितु पत्रकार जीवन की साधना रही है और रहेगी। अन्याय और बुराई, अत्याचार और शोषण की मलिन धारा ने जब-जब समाज में प्रवाहमान जीवनधारा की सुर-सरिता को कलुषित करने का प्रयास किया है तब-तब पत्रकारिता ने मलिनता के शोधन के लिए अद्भुत कार्य किया है। आज मानव समाज विघटन के कगार पर खड़ा है। हम भीतर से कहीं टूट से गए लगते हैं और इस टूटन ने हमारे भीतर एक बिखराव पैदा कर दिया है। मानवीय मूल्यों का विघटन हो गया है जिससे मानवीय ज्येष्ठता एवं श्रेष्ठता पर प्रश्नचिह्न लग गया है।

स्वाधीनता प्राप्ति के लिए जो ऊर्जा हमारे भीतर विद्यमान थी, स्वाधीनता प्राप्ति के पश्चात् हमारी समस्त अस्मिता को जैसे लकवा-सा मार गया है। देश-भक्ति की पावन-भावना से हटकर हमारा सारा ध्यान, सारी सोच, निजी स्वार्थों के हित-चिंतन पर आश्रित हो गई है। सच्चाई, सफाई, ईमानदारी, कर्तव्यनिष्ठा ये शब्द तो जैसे अपना अर्थ ही खो गए हैं। इस मोहभंग के परिवेश ने पत्रकारिता को भी प्रभावित किया है और पराधीनता काल की पत्रकारिता का आदर्श जैसे बिखरकर रह गया है। पत्रकारिता की संपूर्ण तेजस्विता तेजहीन होकर रह गई है। केवल उदरपूर्ति की चिंता ने हमें दिनभर में ही कई-कई रंग बदलने का ढंग सिखला दिया है और सच-झूठ में अब कोई अंतर नहीं रह गया है। देश में पत्रकारिता, सर्वसाधारण के हित के विपरीत कार्य कर रही है। पत्र धन से निकलते हैं और धन के संबल से प्रसार संख्या बढ़ती है और पत्रकार भी धन के ही पुजारी बनकर रह गए हैं। अन्याय का प्रतिकार हो सके यह लक्ष्य व्यावसायिक रंग में रंगी पत्रकारिता का हो भी नहीं सकता। पत्रकारिता यंत्रवत हो गई है। “राजनीति के क्षेत्र में जिस प्रकार देश सेवकों ने अपने त्याग और कष्ट

\* शशिकांत राय, शोध छात्र, पत्रकारिता एवं जनसंचार विभाग, उ. प्र. राजर्षि टंडन मुक्त विश्वविद्यालय, इलाहाबाद, एवं पत्रकार, प्रथम प्रवक्ता, नोएडा (उ.प्र.)

सहन का भुगतान पदों और सत्ता केंद्रों के क्षेत्र में कर लिया है, वही बात पत्रकारिता के क्षेत्र में भी हुई है। सरकारी विज्ञापनों की गाढ़ी कमाई, विधान सभाओं और पार्लियामेंट की सीटों तथा विदेश यात्रा के डेलीगेशनों की चकाचौंध ने पत्रकारिता जगत पर भी प्रभाव डाला। फलस्वरूप जो बात राजनीतिक क्षेत्र में हुई वही पत्रकारिता के क्षेत्र में भी हुईयानी नैतिक मूल्यों का हास, आदर्शवादिता का क्षय। आज की पत्रकारिता की यही स्थिति है।” जिस तरह सत्ता, संपत्ति, रूप-यौवन, पदवी आदि मिलने पर कोई व्यक्ति अनावश्यक घमंड करने लगता है, ठीक ऐसी स्थिति तथाकथित प्रतिष्ठा मिल जाने पर आज पत्रकारों की हो गई है।

अपने अहंकार में चूर पत्रकार किसी की कोई परवाह ही नहीं करता है। मंत्री हो या कोई उच्च अधिकारी, उस पर पत्रकार आजकल ऐसे रौब जमाते देखे जाते हैं कि उनके अहंकार को देखकर कोई भी हतप्रभ रह जाता है। वह अपनी श्रेष्ठता की डींग मारता हुआ दिखाई देता है। जबकि “पत्रकार की समाज के प्रति बड़ी जिम्मेदारी है, वह अपने विवेक के अनुसार अपने पाठकों को ठीक मार्ग पर ले जाता है, वह जो कुछ लिखे, प्रमाण और परिणाम का लिखे और अपनी गति-मति में सदैव शुद्ध और विवेकशील रहे। पैसा कमाना उसका ध्येय नहीं है। लोक सेवा उसका ध्येय है।”<sup>2</sup> पत्रकारिता भी इस सेवा-भाव का एक सशक्त माध्यम है। प्रचार-प्रसार के क्षेत्र में पत्रकारिता को जो प्रतिष्ठा मिली है उसके कारण इसके आदर्शपरक बने रहने की बात भी महत्वपूर्ण हो गई है। पत्रकारों के लिए नैतिक आदर्श आवश्यक बताते हुए सन् 1950 में काशी पत्रकार संघ के अध्यक्ष के रूप में पांडेय बेचन शर्मा ‘उग्र’ ने अपने विचार व्यक्त करते हुए कहा था, “मेरी राय में पत्रकार बनने के पूर्व आदमी को समझ लेना चाहिए कि यह मार्ग त्याग का है, जोड़ का नहीं। जिस भाई-बहन को भोग-विलास की लालसा हो वह और धंधे करे, रहम करे इस रोजगार पर। मेरा आदर्श पत्रकार ईमानदार पादरी पीर है, किसी भी भीड़ में जिसे आसानी से पहचाना जा सके।”<sup>3</sup> पत्रकारिता एक पावन एवं पवित्र व्यवसाय है, अतः इस क्षेत्र में कर्मरत कर्मों का उतना पावन और निर्मल चरित्र वाला होना पड़ेगा। समाज को स्वस्थ बनाने की दृष्टि से भी पत्रकारिता के लिए आदर्श मानदंडों के महत्त्व को स्वीकारा गया है। पत्रकारिता का इतिहास भी, आदर्श पत्रकारों की साधना के रूप में गरिमापूर्ण आदर्श से महिमामंडित है। पत्रकारिता के महत्त्व और मर्यादा के दृष्टिगत इसके आदर्श भी उच्च ही होने चाहिए तभी आदर्श पत्रकारिता की आधारभूमि तैयार की जा सकती है। “पत्रकारों से सामाजिक चेतना के जागरण के अवगाहन की अपेक्षा करते हुए जवाहर लाल नेहरू ने उनके कर्तव्य-निर्धारण के प्रसंग में कहा था कि जीवन में जो कुछ निकृष्ट है, उसको क्रमशः बढ़ते जाने को रोक लगाने में सहायता करना पत्रकारों का कर्तव्य है। पत्रकारों को अधिक ऊँचे दर्जे की तथाकथित उज्ज्वल सामाजिक चेतना

के निर्माण में ही सहायता नहीं करनी है वरन छोटी-छोटी बातों में सामाजिक व्यवहार करना सिखाने में भी।”<sup>4</sup>

हिंदी पत्रकारिता के आदर्श स्वरूप में ही वह ऐतिहासिक धरोहर बन सकती है। पत्रकारिता अब एक अंतरराष्ट्रीय उद्योग बन गई है जिसके कारण इसके प्रति आकर्षण और लोकरुचि में निरंतर बढ़ोत्तरी होना स्वाभाविक बात हो गई है। आज पत्रकारिता में धार्मिक, सामाजिक तथा राजनीतिक विषयों का समावेश, पाठक समाज के लिए ज्ञान में बढ़ोत्तरी करने का माध्यम बन गया है। समाचार-पत्र के प्रति आम पाठक भी जागरूक हुआ है। इसलिए पत्रकार को समाचार-पत्र में ऐसी कोई बात नहीं लिखनी चाहिए, जिससे सत्य पर पर्दा पड़ता हो क्योंकि पत्रकार द्वारा प्रकाशित बात का ज्यादा प्रचार-प्रसार होता है। ऐसा माना जाता है कि अनभिज्ञ व्यक्ति पत्रकार की बात पर विश्वास करता है। सद्भावपूर्वक लोकहित में किसी भी प्रकार की टीका-टिप्पणी प्रकाशित करना तो पत्रकार का कर्तव्य भी है। आलोचना की आड़ में यदि पत्रकार समाचार-पत्रों में ऐसी भाषा का प्रयोग करता है जिससे किसी नागरिक की अवमानना होती हो, तो ऐसी स्थिति में कानून भी पत्रकार को सुरक्षा नहीं दे पाता। पत्रकार का यह कर्तव्य है कि समाचार या सूचना को प्रकाशित करने से पूर्व उसकी भली-भाँति जाँच कर लें अन्यथा यदि सामग्री मानहानि की परिचायक हुई तो उसके कारण अपनी जिम्मेदारी से बच नहीं सकता। उसे उपेक्षा और असावधानी के परिणाम अंततः भुगतने ही पड़ेंगे।

न्यायालय की अवमानना के लिए दंड के प्रावधान का प्रयोजन न्यायालय और न्यायाधीशों की प्रतिष्ठा और गरिमा, न्याय-प्रशासन, न्याय-प्रक्रिया, अदालत में पेश मामलों से संबद्ध पक्षों को ऋजु विचारण के अधिकार और एक आवश्यक जनतांत्रिक एवं मानवीय संस्थान के रूप में न्यायपालिका की रक्षा करना है। यह अवधारणा स्पष्टतः लोकहित में है। इसलिए उच्च अदालतों को न सिर्फ अपमान करने वालों को दंडित करने के व्यापक अधिकार दिए गए हैं, बल्कि दंड का निर्णय करने की अवधारणा-प्रक्रिया का लाभ भी उन्हें दिया गया है।<sup>5</sup> पत्रकारों के लिए यह बहुत जरूरी है कि उन्हें अपने व्यवसाय के सफल निर्वहन में बहुश्रुत व्यक्तित्व का स्वामी बनना होगा। ज्ञान-विज्ञान के हर क्षेत्र की उचित जानकारी हर पत्रकार के लिए अनिवार्य है तभी वह एक सफल पत्रकार बन सकता है।

आदर्श पत्रकारिता का रहस्य भी इसी में निहित है कि एक पत्रकार किसी तरह अपने कर्म क्षेत्र में सफलतापूर्वक अपने कार्य का निष्पादन करता है। पत्रकार के प्रखर विचार, उसके काम करने की ऊर्जा, उसके व्यक्तित्व में निहित गुण ही आदर्श पत्रकारिता के प्राकृतिक स्रोत हैं। पत्रकार तो परंपरागत आदर्श की परिपाटी का अनुसरण करता है और अपने समय के समाज की स्थितियों के अनुकूल अपने विवेक से उच्च आदर्शों का निर्माण करता है। अपनी उर्वर कल्पना शक्ति, समाज को

देखने-परखने की अद्भुत सूझ से ही पत्रकार अपनी लेखनी से ऐसी आचार संहिता का निर्माण करते हैं जिससे समाज को सही दिशा-निर्देश मिल पाता है। कोई भी पत्रकारिता प्राणहीन हो ही नहीं सकती। पत्रकारिता में वे ही प्रबुद्ध लोग अपना स्थान बना पाने में सफल होते हैं, जो यह भली भाँति जान लेते हैं कि उच्च आदर्श पत्रकारिता के साथ आद्यंत चलना है। जब समाज में हर कार्य एक श्रेष्ठ आदर्श की परिधि में संपन्न होने लगते हैं तो स्वतः ही एक आदर्श समाज की कल्पना साकार हो उठती है। पत्रकार को अपनी लेखनी द्वारा सूचनाप्रद जानकारियाँ उपलब्ध कराने के स्थान पर, समाज को सँवारने का महत् कार्य भी करना चाहिए। समाज को सँवारने की प्रेरणा, पत्रकार को उसके निजी उच्च विचारों के उदात्त मूल्यों से प्राप्त होती है। पत्रकार कर्म की मर्यादा समाज में बनाए रखने की गारंटी समाज नहीं देता, पत्रकार को स्वयं अपने काम, आचरण और उत्तरदायित्व के प्रति जागरूक रहकर अपनी मर्यादा की विराट पृष्ठभूमि तैयार करनी पड़ती है। एक अच्छा पत्रकार समाज की अंतरात्मा होता है ताकि वह जान सके कि समाज किधर जा रहा है। व्यावसायिक कौशल, आदर्श पत्रकारिता की मूलभूत आवश्यकता है। आने वाले समय में ज्ञान के विस्फोट में निरंतरता बनी रहेगी। ज्ञान विस्फोट के लिए एक संतुलित मस्तिष्क की जरूरत होगी ताकि मस्तिष्क की सृजनधर्मिता मानव-कल्याण की हेतु बन सके। ऐसा सुपरिणाम प्राप्त करने के लिए पत्रकार को निश्चित रूप से एक विशिष्ट भूमिका का वहन करना होगा ताकि उन विरोधी शक्तियों को नियंत्रित किया जा सके, जो वर्तमान सभ्यता के अस्तित्व और सुरक्षा पर खतरा बनी हुई है। “मनुष्य द्वारा अपने पर्यावरण और प्रकृति की बढ़ती हुई लूट-खसोट बड़े पैमाने पर हुई है और तेज रफतार से सीमित संसाधनों का अपव्यय, जिससे पर्यावरण का संतुलन बिगड़ गया है। यहाँ तक कि हमारी पृथ्वी पर जीवन धारण करने के लिए आवश्यक वायुमंडल ही दूषित हो जाए, गंभीर चिंता का विषय है। प्रकृति की सुरक्षा, पर्यावरण की देखभाल, प्रदूषण की रोकथाम के उपाय अत्यंत आवश्यक हैं। जंगलों की कटाई और महासागरों में प्रदूषण का तकाजा है कि इन बहुमूल्य साधनों की रक्षा के लिए तुरंत आवश्यक उपाय किए जाएँ। प्रौद्योगिकी शक्ति के दोहन पर अंकुश लगाना आवश्यक है।”<sup>6</sup>

पत्रकारिता को अपने महनीय कर्म द्वारा समाज में एक व्यक्तित्व को विकसित करने की दिशा में लेखनी उठानी होगी जिससे व्यक्ति का एक पूर्ण विकसित व्यक्तित्व बन सके, जो विवेक, शक्ति, कार्य और कौशल की श्रेष्ठता के महनीय गुणों से ओत-प्रोत हो। अब समय आ गया है जब पत्रकारिता को अपने कर्म का पुनर्मूल्यांकन करना होगा ताकि सभी क्षेत्रों में होने वाले विकास, अर्थव्यवस्था एवं व्यक्ति की मूलभूत आवश्यकताओं के अनुरूप पत्रकार नई चुनौतियों का सामना करने में सक्षम हो सकें। 4 अप्रैल, 1963 को पं. जवाहरलाल नेहरू ने लोकसभा में कहा था कि “हम जानते हैं कि स्वतंत्रता के पूर्व इस जातिग्रस्त देश में सबसे कठोर जाति अंग्रेजी जानने

वालों की थीअंग्रेजी पोशाक, अंग्रेजी प्रेम, चाहे वह शासक हो या अन्य। हम लोगों में से भी अनेक जाति के थे। यह बहुत ही बुरा था क्योंकि इसने भारतीय जनता और हम लोगों के बीच भयंकर दीवार खड़ी कर दी थी।” प्रथम प्रधानमंत्री के शब्दों में, राष्ट्रीय समस्या का यह कँटीला पेड़ अंग्रेजों ने लगाया था और उसकी जड़ें आज भी सूखी नहीं। इस ओर ध्यान खिंचते रहने का काम, एक आदर्श पत्रकारिता का ही है।

किसी प्रकार के स्वार्थ या लोभ के वशीभूत होकर भी पत्रकार को अवांछित सामग्री अथवा अशोभन विज्ञापनों का प्रकाशन नहीं करना चाहिए। “यद्यपि इस संदर्भ में कानूनी प्रतिबंध भी हैं, जिनका आचार-संहिता की दृष्टि से अपेक्षाकृत अधिक महत्त्व है। बहुधा किसी विवादास्पद स्थिति को उत्पन्न होने पर पत्रकार का दायित्व अधिक बढ़ जाता है। ऐसी अवस्था में भी पत्रकार को अपने क्रियाकलाप की नैतिक सीमाओं में बँधकर अपना कार्य करना चाहिए।”

“प्रसिद्ध यूरोपीय चिंतक बर्नार्ड शा ने पत्रकारिता को शाश्वत साहित्य की श्रेणी में रखा। उन्होंने लिखा है कि जो व्यक्ति अपने समय के बारे में लिखता है, केवल वही सचमुच समस्त मनुष्यता और सभी युगों के लिए लिख सकता है।”<sup>8</sup> बर्नार्ड शा के ये कथन इतने महत्त्वपूर्ण हैं, जिन्हें बार-बार उद्धृत करने पर भी इन कथनों की नवीनता बनी ही रहती है। आदर्श पत्रकारिता के लिए आवश्यक है कि अत्याचार, असत्य और सामाजिक पाखंड के बारे में खुलकर लिखा जाए। इस बात की भी पूर्ण जानकारी रहनी चाहिए कि समाचार की श्रेष्ठता के रहस्य क्या हैं?

विश्वसनीयता, सम्मान, प्रभावोत्पादकता एवं देशप्रेम पत्रकारिता के ऐसे आदर्श हैं, जिन्हें व्यवहार में कार्यान्वित करने पर पत्रकार बेहतर कार्य कर सकता है। पत्रकारिता से जुड़े कर्मियों पर आरोप लगाए जाते हैं कि उनके कार्य में पूर्वाग्रह, अर्द्धसत्य तथा लापरवाही तथा मिथ्या-अभिमान की भावना रहती है और इस प्रकार के आरोप निश्चित रूप से आदर्श पत्रकारिता के खतरे भी हैं और संभव है कि इन दोषों के रहते ऐसा समय भी आए, जब समाचार के पृष्ठों पर कोई विहंगम दृष्टिपात भी न करे। इसीलिए यह आवश्यक बात है कि पत्रकारों को अपने लेखन के माध्यम से पाठक-समाज में असमंजस की स्थिति पैदा नहीं करनी है, यदि वे ऐसा करते हैं तो वे छद्म-प्रतिष्ठा के धोखे में रहते हैं। इस धोखे से बचाव की एक राह है, वह यह है कि आत्म-निरीक्षण के सहारे पत्रकारों को छपे पृष्ठों पर नजर डालकर अपने को विश्वस्त कर लेना चाहिए कि जो कुछ छपा है क्या वह सत्य से जुड़ी हुई तथ्यपरक जानकारी है?

आदर्श पत्रकारिता में मानदंडों के परिप्रेक्ष्य में यह भी महत्त्वपूर्ण बात है कि पत्रकार कैसी भाषा का प्रयोग करता है। क्योंकि यह तो सभी जानते हैं कि पत्रकार तथ्यों को प्रकट करने के लिए लिखता है और एक विशेष संदेश को पाठक समाज तक पहुँचाने के लिए भी पत्रकार लिखता है। किंतु लिखते समय यह ध्यान अवश्य

रहना चाहिए कि पत्रकार पाठकों को जो बतलाना चाहता है क्या वह ऐसा करने के उद्देश्य से बेहतर भाषा का प्रयोग करने में समर्थ हो पाया है। इस दृष्टि से विचार, सारगर्भित तथा प्रभावकारी होने चाहिए जिन्हें पाठक जल्दी से समझ सकने में समर्थ हो सके। भाषा अभिव्यक्ति का माध्यम है, उसे जटिल नहीं बनाया जाना चाहिए। स्पष्ट लेखन के गुण वरदान में नहीं मिलते, इसके लिए स्पष्ट सोच का होना बहुत जरूरी है। तथ्य जब पूरे नहीं होंगे, तो कागज पन्नों पर शब्दों की कालिख कोई जादू का काम नहीं कर सकती, शब्द तभी प्राणवान होता है, जब वह सत्य तथा स्पष्ट-चिंतन का परिचायक होता है। व्यक्ति किए गए विचार तर्कपूर्ण एवं अर्थपूर्ण होने चाहिए तभी शब्दों का जादू पाठक के मन में और मस्तिष्क को गहरे रूप से प्रभावित करता है।

जो पत्रकार श्रेष्ठ पाठक भी होते हैं, वे पत्रकार अच्छे लेखक भी सिद्ध होते हैं। पत्रकार को बेहतर पत्रकारिता करने के लिए निरंतर चिंतनशील और अभ्यासी रहना चाहिए। पत्रकार को चाहिए कि वह जनता-जनार्दन का सम्मान करे और उनके लिए चेतावनी भी दे सके कि वह कोई ऐसा काम न करे जिससे सामाजिक हित को चोट पहुँचती हो। जन प्रतिनिधि बनकर पत्रकारों को भरपूर जन-समर्थन भी जुटाना चाहिए। जनता को यह एहसास कराया जाना चाहिए कि पत्रकार उनके हितों की रक्षा के प्रति सजग प्रहरी है। पत्रकार को चाहिए कि वह जनता में विश्वास पैदा करे कि वह अपनी खोजी प्रवृत्ति के बल पर, अंततः उनके हित कार्य में लगा हुआ है।

पत्रकारिता का यह अहम कर्तव्य है कि वह अपने कर्म द्वारा समाज को जागरूक बनाए, लोगों को पत्रकारिता से मिलने वाले जन-अधिकारों की जानकारी दी जानी चाहिए ताकि लोग जान सकें कि पत्रकारिता को मिले तमाम अधिकार वास्तव में जनता के अधिकार हैं।

पत्रकारों को प्रतिस्पर्द्धा की दौड़ में आगे रहना चाहिए। अच्छा समाचार त्वरित गति से पाठकों को पढ़ने के लिए तभी मिल सकता है, जब पत्रकार स्वयं प्रतिस्पर्द्धा के बल पर कार्य करेंगे। बेहतर पत्रकारिता की कसौटी इसी में है कि पत्रकार लोक-कल्याण के लिए जनता की पीड़ा को समझें। नैतिक मूल्यों के पतन को रोकने तथा लोगों को उनके दायित्व के प्रति जागरूक रहने के लिए सतत लेखन कार्य की गति को बनाए रखें। ताकि लेखन पत्रकारिता के क्षेत्र में अमूल्य दस्तावेज सिद्ध हो सके।

आज अधिकांश समाचार-पत्र, उत्तेजना और आतंकमूलक समाचारों को उच्च प्राथमिकता देकर समाज को गुमराह कर रहे हैं, “पत्र बेचने के लालच में अश्लील समाचारों को महत्त्व देकर तथा दुराचरणमूलक अपराधों से भी वे बड़े अपराधी हो जाते हैं। अपराधी एकाध पर अत्याचार करके दंड पाता है और हम सारे समाज की रुचि बिगाड़कर आदर पाना चाहते हैं।”<sup>9</sup> पराड़कर जी के इन कथनों में यथार्थ का गहरा



एहसास होता है। साफ और सच्ची बात करके पराङ्क जी ने आदर्श पत्रकारिता के सत्य को रेखांकित किया है। वास्तव में पत्रकार का लेखन कर्म, जीवन-दर्शन का परिचायक होता है। वह जो कुछ लिखता है उसे पढ़कर यथार्थ-बोध होता है और सीधे-सीधे पाठक का मन-मस्तिष्क प्रभावित होता है क्योंकि पत्रकार के विषय-वर्णन में, प्रामाणिकता होती है, चित्रण सजीव होता है और होती है गहरी संवेदना, जिसे पढ़कर पाठक निश्चित रूप से सचेत होता है।

चौथे स्तंभ के रूप में पत्रकारिता को मान्यता मिली है उसका कारण मात्र इतना ही है कि पत्रकार अपने कर्तव्यकर्म से जन-जीवन को प्रशिक्षित करता है। उसकी भूमिका विश्वविद्यालय के शिक्षक की तरह हो जाती है, इसीलिए पत्रकार को ज्ञानवीर होना पड़ता है। ज्ञान और क्रिया दोनों में पत्रकार की दक्षता अपेक्षित है। अमेरिकन प्रेस कांग्रेस ने पत्रकारों के लिए इस तरह के निर्देश तय किए हैं, जो आदर्श पत्रकारिता के मानदंड तथा पत्रकार के लिए तो नितांत अपरिहार्य हैं

1. अपने पक्ष के नाम पर गर्व कीजिए। जोश के साथ अपना उत्साह दिखाइए पर व्यर्थ घमंड मत कीजिए।
2. पत्रकारों में जड़ता मृत्युवत् है। एक ही लकीर को पीटते रहना बौद्धिक मृत्यु के सिवा और कुछ नहीं।
3. अवसर मत खोइए अपना ज्ञान जितना भी बढ़ा सकें, बढ़ाइए। नवीनता-प्रदर्शन से मत चूकिए।
4. व्यक्ति से बड़ा समाज है, सरकार से बड़ा देश है। मनुष्य नश्वर है। संस्था और सिद्धांत अमर हैं।
5. आर्थिक और साहित्यिक दोनों क्षेत्रों में आक्रमण का सामना आक्रमण से कीजिए, शांति से रहना है तो अपनी रक्षा के लिए हमेशा तैयार रहिए। तलवार और पैसा कलम के दुश्मन हैं। आवश्यकता पड़े तो सम्मान की रक्षा के लिए जीवन और धन दोनों की बलि दीजिए।
6. दृढ़ रहित पर हठी नहीं। परिवर्तनशील बनिए पर कमजोर नहीं। उदार बनें, पर हाथ बिलकुल ढीला मत छोड़िए।
7. स्पष्टवादी, सगर्व और फुर्तीला रहिए, आपका सम्मान होगा। कमजोरी परलोक के लिए अच्छी है, नहीं तो वह जड़ता ही है।
8. जो कुछ छपा हो उसकी जिम्मेवारी लीजिए। व्यर्थ दोषारोपण पाप है। प्रतिष्ठा की हानि करने वाली चीज न छापिए। घूस लेना पाप है।
9. अधिक से अधिक मित्र बनाइए। मित्र ऐसे हों जो आपके आदर के पात्र हों या जिनकी मित्रता से आपका सम्मान बढ़े। कुछ लोग आप से शत्रुता भी करेंगे। लेकिन आप निर्भीक और निःस्वार्थ होकर अपना काम करते रहें।”<sup>10</sup>

समाचार-पत्र पाठक समाज के इतिहास पृष्ठ होते हैं, जिनमें झाँककर पाठक समाज अपने व्यक्तित्व का विश्लेषण करता है। इस दृष्टि से समाचार-पत्रों, पत्रकारों यानी समस्त पत्रकारिता को आदर्श मानदंडों का अनुसरण करना ही चाहिए जिनके बल पर पत्रकारिता का चेहरा भी आकर्षक बनता है और पत्रकार को भी यशस्वी होने का गौरव प्राप्त होता है।

## संदर्भ

1. हिंदी पत्रकारिता, कृष्ण बिहारी मिश्र, पृ. 415
2. श्री गणेश शंकर विद्यार्थी की लेखनी, संपादकजगदीश प्रसाद चतुर्वेदी, पत्रकार कला पर दो शब्द, पृ. 75
3. बृहद हिंदी पत्रकारिता कोश, डॉ. प्रताप नारायण टंडन, पत्रकार की नैतिकता और आचार संहिता, पृ. 639
4. वही, पृ. 640
5. प्रेस विधि, डॉ. नंद किशोर त्रिखा, पृ. 75
6. भारत में विद्यालयी शिक्षा, प्रेमनाथ कृपाल द्वारा लिखित लेख, 'इक्कीसवीं शताब्दी के लिए', से उद्धृत, पृ. 281
7. बृहद हिंदी पत्रकारिता कोश, डॉ. प्रताप नारायण टंडन, पत्रकार की नैतिकता और आचार संहिता, पृ. 638
8. वही, पृ. 639
9. निर्भीक लेखन का आदर्श : पराङ्क, भगवती प्रसाद शुक्ल, आकाशवाणी पत्रिका, 16 जुलाई, 1983, अंक-14, पृ. 2
10. संवाद और संवाददाता, श्री राजेंद्र, पृ. 204-205

## संत की स्नेहसिक्त मधुमय वाणी : 'संत रविदास की राम कहानी'

समीक्षक: घनश्याम मैथिल 'अमृत'

कविता टिकेगी/क्योंकि/कोई/शरीर नहीं है वह मेरा/वह मेरी आत्मा ही नहीं/आध्यात्म है। 'संत रविदास की राम कहानी' औपन्यासिक कृति के प्रारम्भ 'मनोगत' के अन्तर्गत अपनी बात का प्रारम्भ डॉ. देवेन्द्र दीपक ने कविवर भवानी प्रसाद मिश्र की इन काव्य पंक्तियों से किया है। मैं भी इस कृति के संदर्भ में अपनी बात भवानी भाई की काव्य पंक्तियों से ही करना चाहूँगा, जिनका आशय कुछ यों है 'जैसा तू लिख, और जैसा तू लिखता है वैसा तू दिख।' इस कृति कि सृजन डॉ. देवेन्द्र दीपक पर भवानी भाई की यह पंक्तियाँ अक्षरशः सटीक बैठती हैं। वर्तमान समय में देखा जा रहा है कि जो भी साहित्य लिखा जा रहा है उसका समाज पर यथेष्ट प्रभाव नहीं पड़ रहा है। इसका मूल कारण है हमारे चरित्र का दोहरापन। यानि हमारे अंतर में कुछ और है तथा प्रकट हम कुछ और कर रहे हैं। इस प्रकार कथनी करनी में भिन्नता के कारण साहित्यकारों के सृजित शब्द भी प्रभावहीन होते जा रहे हैं। वरिष्ठ रचनाकार डॉ. देवेन्द्र दीपक इसका अपवाद हैं। वे जैसा लिखते हैं, वैसा ही दिखते हैं। और जैसा दिखते हैं, वैसा ही लिखते हैं। दीपक जी हमारे समाज में मौजूद संकीर्ण जातिवादी वर्ण व्यवस्था के सर्वदा मुखर विरोधी रहे हैं जो उनके लेखन से सिद्ध है।

'संत रविदास की राम कहानी' डॉ. देवेन्द्र दीपक की संत रविदास के जीवन चरित्र पर केन्द्रित अद्वितीय औपन्यासिक कृति है। इस कृति के माध्यम से उन्होंने संत रविदास के जीवन दर्शन का बड़ी सूक्ष्मता से अति गंभीर व समग्र विवेचन किया

\*समीक्षक: घनश्याम मैथिल 'अमृत', जी/एल-434, अयोध्या नगर, भोपाल-41; मो. 09893803743.

\*\*कृति - संत रविदास की राम कहानी (उपन्यास), डॉ. देवेन्द्र दीपक; प्रकाशक: आर्य प्रकाशन मण्डल, गाँधी नगर, दिल्ली; प्रकाशन वर्ष - 2011; पृष्ठ-168; मूल्य-250/- रुपये।

है। संवाद शैली में इस उपन्यास को, बचुआ यानि लेखक एवं संत रविदास के मध्य हुए वार्तालाप को माध्यम बनाकर, बड़े सहज, सरल व रोचक ढंग से रचा गया है। हमें भक्तिकालीन कवियों में संत कबीर, सूर, तुलसी, मीरा आदि पर तो प्रचुर सामग्री मिलती है परंतु संत रविदास पर पढ़ने, सुनने को कम ही मिलता है। ऐसे में यह उपन्यास निश्चय ही एक बहुत बड़े अभाव को पूरा करेगा। संत रविदास का सम्पूर्ण जीवन चुनौतियों और संघर्षों की महत्त्वपूर्ण दास्तान है। उन्होंने सिद्ध किया है कि व्यक्ति जाति, वर्ण अथवा कुल से नहीं बल्कि शील एवं कर्म से महान् होता है। उन्होंने इस बात की महत्ता प्रतिपादित की है कि घर से पलायन कर प्रभु की तलाश में वनों अथवा कंदराओं में ध्यान लगाने की अपेक्षा श्रम करते हुए गृहस्थ रहकर, प्रभु भक्ति में लीन होने का उन्होंने मार्ग प्रशस्त किया। उनका सिद्धांत था 'मुख में राम, हाथ में काम'। उनकी दृष्टि में श्रम पारसमणि से भी श्रेष्ठ है। वे कहते हैं 'जल से नहाया हुआ व्यक्ति स्वच्छ होता है, परंतु पसीने से नहाया हुआ व्यक्ति पवित्र होता है।' उनका कथन था कि 'परिश्रम से कमाना, संयम से उपभोग करना और समय आने पर प्रेम से दान करना ही जीवन का यथार्थ है।' वे पाखण्ड के प्रबल विरोधी थे। उन्होंने सदैव सवर्ण मानसिकता से समाज को मुक्ति का पाठ पढ़ाया। उन्होंने परम्परा दी पसीना बहाने की। उन्होंने श्रम का अभिषेक किया तथा यह भी बताया कि स्वेद की यह शीलमयी बूँद शोषण के विरुद्ध कुपित होकर ज्वालामुखी भी बन जाती है। उनके अनुसार समाज के सभी व्यक्ति सहचर हैं, अनुचर कोई नहीं।

इस कृति में कुल 28 शीर्षकों के माध्यम से रचनाकार ने उपन्यास का ताना-बाना बुना है। सर्वप्रथम 'आह्वान' में लेखक भक्त शिरोमणि रविदास को प्रणाम करते हुए उनसे अनुरोध करते हैं कि वे अपनी राम कहानी सुनाएँ, इस कहानी में पुराने प्रश्न तो हों ही साथ ही वर्तमान संदर्भों में नई चिंताओं व समस्याओं को भी वे रेखांकित करें। 'लो सुनो' शीर्षक से लेखक व रविदास जी के मध्य संवाद प्रारम्भ होता है। वे कहते हैं 'मन और वाणी में एकता होनी चाहिये, मन का हेतु साफ तो, बात साफ। उसमें पेंच काहे का? पेंच वहाँ होता है जहाँ मन साफ नहीं होता।' चर्चा को आगे बढ़ाते हुए वे कहते हैं 'मैं प्रभु के सामने अकिंचन हूँ, आदमी के सामने नहीं। विनम्रता और अकिंचनता में भेद है, मैं दीन हूँ, हीन नहीं। दीनता जेब की होती है। उसका कारण बहुत कुछ आदमी खुद है। हीनता मन की होती है।' रविदास जी अपने समाज में रहकर ही अपनी बात लोगों से कहना चाहते हैं, वे अपनी बिरादरी को छोटामानते ही नहीं वे छुआछूत के पोषक लोगों को फटकारते हुए कहते हैं 'छुआछूत का टीका हमारे माथे पर अमिट और स्याही से लगाया गया। मेरा धर्म है कि मैं अपनी और अपनी बिरादरी की तरफ से कहूँ - तुम्हारा तिलक झूठा है, तुम्हारा मंदिर मोह झूठा है, तुम्हारी मूरत झूठी है।' वे सवर्णों के प्रति घृणा अथवा हिंसा का भाव नहीं

रखते हैं, उकनी दृष्टि में एक काँटे से दूसरा काँटा निकालना आपसी व्यवसहार मेंठीक नहीं, प्रेम से प्रेम उपजता है तो घृणा से घृणा।

वे मेहनत करने के प्रबल पक्षधर थे। वे कहते हैं 'जिस अनुशासन में पसीने का आदर न हो, उस अनुशासन को एक न एक दिन नष्ट होना ही है। अपने भगवान की मूरत को गंगाजल से नहलाओ लेकिन साथ ही उसे पसीने का अर्ध भी दो। गंगा जल और पसीना दोनों पवित्र हैं।' 'हमारा सच चमड़ा' शीर्षक में हमें चमड़े के महत्व को नई दृष्टि से समझने का अवसर मिलता है। चौंसठ कलाओं में चमड़े को मुलायम करना और उसका उपयोगी सामान बनाना भी एक कला है, यह जानना सुखद आश्चर्य का विषय है। ऋग्वेद में चर्मशोधन की चर्चा है, पुराने ग्रंथ चमड़े और चर्मकारों के संदर्भों से भरे पड़े हैं जिसका हमें पता नहीं। चमड़े का काम गंदगी व बदबू भरा है, यह एक कड़वी सच्चाई है। अस्वच्छता शेरुहुई अस्पृश्यता को स्वच्छता का सिरा पा कर चुक जाना चाहिये था, लेकिन असपृश्यता का इस स्वच्छता से क्या लेना देना।

संत रविदास को स्वयं अपनी जाति में भी ऊँच-नीच की परिपाटी पसंद नहीं थी। वे कहते हैं 'एक बात मुझे वहाँ अपने समाज में कभी बर्दाश्त नहीं हो सकी। होती भी कैसे? हमारी जाति नीची थी। लेकिन हमारी जाति में भी ऊँच-नीच थी। कुछ उपजातियों में परस्पर ऊँच-नीच थी। हुक्का पानी में भेदभाव था।'

संत रविदास मानव-मानव में जाति के आधार पर विषम व्यवहार के विरोधी थे। इसीलिए उन्होंने कहा: 'तरह-तरह की सेवा लेने वाले समाज ने अपने इन सेवकों का आदर नहीं किया। आदर करना तो दूर अनादर किया। लेकिन बबुआ, देख लेना एक दिन समाज को इस निरादर का दण्ड भोगना पड़ेगा। इस घुन का निराकरण किये बिना समाज की सेहत ठीक नहीं होगी। नहीं होगी।'

'पुत्र लालसा' शीर्षक से गुजरते वक्त हमें पता चलता है कि हम प्राचीन काल से ही पुत्र की कामना रखते आए हैं। बेटियों के प्रति हमारी सोच कभी सकारात्मक नहीं रही। इस संदर्भ में ये पंक्तियाँ द्रष्टव्य हैं 'मेरी माँ को भी संतान चाहिये थी, संतान में भी पुत्र की लालसा। राजा दशरथ ने संतान के लिए जो यज्ञ किया था उसका नाम पुत्रेष्टि यज्ञ था। अर्थात् उन्हें संतान नहीं, पुत्र चाहिए था जिसके बिना मुक्ति नहीं। कौन करेगा दाह संस्कार? कौन देगा मुखाग्नि? जिंदा रहते लड़का भले ही माँ-बाप को नाकों चने चबवाए, लेकिन मृत्यु के समय तो लड़का ही चाहिए।' आज हमें बेटी बचाओ आंदोलन की आवश्यकता क्यों पड़ी? लड़के और लड़कियों के बीच तेजी से लिंगानुपात क्यों घटता जा रहा है। इसके पीछे हमारी वर्षों पुरानी मान्यताएँ रूढ़ियाँ भी कम दोषी नहीं। इसी संदर्भ में इनपंक्तियों पर भी दृष्टि डालें 'जो मनुष्य एकाग्र चित होकर 'पुत्रदा' एकादशी का व्रत करते हैं वे इस लोक में पुत्र पा कर मृत्यु के पश्चात् स्वर्ग को प्राप्त करते हैं। 'पुत्रदा' यानि पुत्र को देन वाली। वह पुत्र कपुतहो, लपट हो, व्यभिचारी हो, पुत्रदा एकादशी को इससे क्या लेना-देना। मुझे अचरज होता है शास्त्र

ने पुत्रदा एकादशी का व्रत सुझा दिया, किसी एकादशी को पुत्रीदा एकादशी भी कह देते।' पुत्र प्राप्ति के लिए रविदास की माँ तरह-तरह के व्रत उपवास रखती है। 'सफल प्रसव के लिए' पूरे नौ माह तक माँ ने तरह-तरह केस्त्रन, दान, व्रत, उपवास आदि विधि विधान से किये। इस बारे में जब रविदास जी से पूछा गया कि बाबा! इस पूरे प्रसंग में आपकी अवधारणा क्या है? आपका पक्ष क्या है? तो वे बोले 'बचुआ मेरा इन बातों पर भरोसानहीं है। लेकिन इतना जरूर है कि आदमी जो भी करे पूरी श्रद्धा से करे। श्रद्धा में छीजन न हो। जो भी किया जाए पूरे मन से किया जाए। बाहर से नहीं भीतर की प्रेरणा से किया जाये। पाखण्ड और दिखावा हमारे शत्रु हैं। उन्हीं के जाल में फँसकर आदमी भ्रष्ट होता है।' 'जन्म' शीर्षक में रविदासजी के जन्म का बड़ा मनाहारी चित्रण है। उनके जन्म के बारे में यह पंक्तियाँ उद्धृत करना आवश्यक है 'चौदह सौ सैंतीस की, माघ सुदी पंदरास। दुखियों के कल्याण हित, प्रगटे श्री रविदास।।' साथ ही एक बहुत सुंदर सोहर भी हमें यहाँ पढ़ने को मिलता है जो बालक रविदास के जन्म पर ढोलक की थाप पर उनके आँगन में गाया गया। यहाँ पर यह भी उल्लेखनीय है कि जब दादी माँ ने दाई से पूछा कि 'तूने बच्चे के कान में क्या कहा?' तो दाई ने कहा 'मैंने दर्द से कराहती जच्चा के कान में कहा 'धनवंत न जनियो, जनियो गुनवंत। गुनवंत के द्वार पर, खड़े रहे धनवंत।'

'चटसाल' बालक रविदास को पाठशाला में वर्ण शूद्र और जाति चर्मकार होने के कारण प्रवेश नहीं मिलता है। परंतु उनकी दार्शनिक बुद्धि से प्रभावित होकर पाठशाला के गुरुजी उन्हें आचार्य जी के पास ले जाते हैं और आचार्य जी रविदास की योग्यता से प्रभावित होते हुए भी, व्यवस्था एवं अनुशासन का प्रश्न उठाते हुए कहते हैं 'मैं विवश हूँ। तुम्हें देखकर एक बात कह सकता हूँ, तुम्हें शिक्षा गुरु की नहीं, दीक्षा गुरु की आवश्यकता है। तुम्हारा शील अपरा नहीं, परा विद्या की ओर संकेत कर रहा है।' यहाँ पाठशाला और चटसाल के बीच भेद करते हुए उनका बड़ा सुंदर चित्रण हमें देखने को मिलता है। चटसाल की तख्ती अलग होगी। वहाँ चित ही कागज होगा और आँख ही स्याही होगी। यहाँ पढ़ेगा 'अ' से अमरूद लेकिन हरि की चटसाल में पढ़ेगा 'अ' से अज्ञान। यहाँ 'आ' से आम। वहाँ पढ़ेगा 'आ' से आसन। यहाँ पढ़ेगा 'इ' से 'इमली' वहाँ पढ़ेगा 'इ' से इड़ा-पिंगला। यहाँ पढ़ेगा 'उ' से उल्लू। वहाँ पढ़ेगा 'उ' से उर। उसे पढ़कर मन आनन्द से भर जाता है। कथा आगे बढ़ती है। रविदास के एकांत में बैठने और घण्टों अपने में डूबे रहने से घर वालों को उनकी चिंता होती है और वे उनका विवाह कर उनके पाँव में विवाह की बेड़ी डाल देना चाहते हैं। उनका मानना था कि नारी का चेहरा देखेगा तो नारायण को भूल जाएगा। वैराग्य की ओर बढ़ते कदमों को रोकने का यह अचूक नुस्खा था। 'विवाह' शीर्षक की ये पंक्तियाँ हमें चिंतन की एक नवीन दृष्टि देती है। 'भारत में लोग चाहते हैं कि धुव पैदा हो, प्रहलाद पैदा हो, लेकिन अपने घर में नहीं। बुद्ध पैदा हो, महावीर स्वामी पैदा हो, लेकिन अपने घर

में नहीं पड़सी के घर में हों। अपने घर में तो ऐसा पूत पैदा हो जो उनके बाद घर संभाल सके। उन्हें देश दीपक नहीं कुल दीपक चाहिए।’ और अंत में घर वाले एक ‘लोना’ नामक गुणवान सुशील लड़की से रविदास का ब्याह कर देते हैं। लोना ने रविदास जी से एक वचन लिया ‘स्वामी तुम चाहे किसी की भक्ति करो, चाहे किसी को अपना गुरु मानों, कमाओ या मत कमाओ इन सब बातों में आप स्वतंत्र हैं, बस एक वचन दो कि घर नहीं छोड़ोगे। गृहस्थ बनकर जैसी चाहे साधना करो।’ और रविदास जी ने अपना वचनजीवन भर निभाया। उनका मानना था कि ईश्वर हमारे अपने अंदर है उसे बाहर ढूँढने के लिए कहीं जाने की आवश्यकता नहीं है। ‘लोना’ के द्वारा हम जान पाते हैं, जीवन में स्त्री का महत्त्व। लोना को रविदासअपना सहचर मानते थे अनुचर नहीं। वे कहते हैं ‘बचुआ आदमी की सफलता लोगों को दिखती है। लेकिन उनकी पत्नी का दिन-रात खटना लोगों को कहाँ दिखता है।’

रविदास गुरु की चाह में ‘दीक्षा’ लेने उस समय के ख्याति-प्राप्त संत रामानंद जी के आश्रम पहुँचते हैं। रामानंद जी उन्हें कई बार अगली तिथि को आने का कहकर लौटा देते हैं। अन्ततः वे रविदास को दीक्षा देते हैं। यहाँ रामानंद जी द्वारा उन्हें बार-बार टालने पर हुआ संवाद ध्यान देने योग्य है: ‘वत्स ऐसा करना जरूरी था। हमें आवेग और आग्रह में अंतर करना होता है। बहुत से लोग किसी आकस्मिक कारण से उद्वेलित हो जाते हैं और उसी आवेग में चले आते हैं दीक्षा लेने। मुझे देखना था कि तुम भावना के स्तर पर जहाँ खड़े हो वहाँ आवेग है या आग्रह। आवेग होता तो तुम वापिस नहीं आते। तुममें आग्रह था, सच्ची लगन थी, इसलिए मेरे बार-बार टालने पर भी तुम आए। मुझे भी बोध हुआ कि मुझे तुम्हें दीक्षा देनी ही चाहिए। तुम वह सुपात्र हो जो युगधर्म पालन में मेरे सहयोगी बनोगे।’

‘गुरुदेव’ शीर्षक के अन्तर्गत रामानंद जी के बारे में हमें सर्वथा नवीन जानकारियाँ प्राप्त होती हैं। वे अद्भुत प्रतिभा के धनी, सभी शास्त्रों में निपुण, भक्ति, शौर्य और समजोत्थान की त्रिवेणी थे। ये पंक्तियाँ देखिये: ‘बचुआ! और क्या यह सत्य नहीं कि छुआछूत भी एक प्रकार की हिंसा है। परोपकार पुण्य है। परपीड़न ही पाप है। छुआछूत क्या परपीड़न नहीं है? यदि छुआछूत परपीड़न है तो वह पाप है। समाज उस पाप से मुक्त हो।’ रविदास जी के गुरु रामानंद जी उत्तर-दक्षिण, आर्य-अनार्य, सवर्ण-अवर्ण, नारी-पुरुष में भेद नहीं करते थे। वे एक दिन दक्षिण के महाकवि संत तिरुवल्लुवर के नीति ग्रंथ के अनुसार कुलीनता को परिभाषित करते हुए कहते हैं ‘मन, वचन और कर्म से सामंजस्य और पाप कर्म में लज्जित होने का योग, कुलीन व्यक्ति को छोड़कर और किसी में नहीं मिलेगा। यानि कुलीन वह जिसका मन, वचन और कर्म में सामंजस्य हो और ‘जो पाप करने में लज्जा और ग्लानि का अनुभव करे।’ वे संस्कृत के एक सुभाषित का उदाहरण देते हुए कुलीनता की और स्पष्ट व्याख्या करते हुए कहते हैं कि ‘दान को गुप्त रखना, घर आए हुए का सत्कार करना, ऐश्वर्य का

मद न होना, पराजित शत्रुके गुणों की चर्चा करना, किसी का उपकार करके मौन रहना, अपने प्रति किये गये उपकार की भरी सभा में जनता के बीच चर्चा करना, शास्त्र में अत्यंत आसक्ति, यह गुण पुरुष की कुलीनता को प्रदर्शित करते हैं।’ ‘साधु-साधो’ में वे कहते हैंसाधु होना सरल है, साधु बने रहना कठिन है। साधु को निरबैर होना चाहिए। साधु का मुँह खुले तो प्रभु के गुणगान को खुले। जिसका मन निर्मल हो, वही साधु है। साधु निर्दोष, निष्पाप, निष्कलंक होता है। सोते जागते, उठते-बैठते वह राम को भजता है। वह चुप रहता है तो भी राम को ही भजता है। ‘फल कारन फूलै वनराई’ में हमें अपने जंगल अपने पर्यावरण, जो कि वर्तमान की सबसे बड़ी और भयावह चिंता है, का दर्शाया गया है। वृक्ष हमारे लिए कितने महत्व के होते हैं, कौन-कौन से वृक्ष हमारे किस-किस काम आते हैं। वृक्षों के बिना जीवन की कल्पना करना ही व्यर्थ है। एक दृश्य देखें ‘बचुआ हमारा देश पुराणों को मानता है। पुराण कहते हैं दस कुएँ बराबर एक बाबड़ी। दस बाबड़ी बराबर एक तालाब। दस तालाब बराबर एक पुत्र। दस पुत्र बराबर एक पेड़। पूत कपूत हो सकता है, लेकिन पेड़ नहीं। पूत निराश कर सकता है लेकिन पेड़ नहीं। पूत केवल अपने परिवार को लाभ पहुँचाता है लेकिन पेड़ तो पूरे समाज को लाभ पहुँचाता है।’

‘विमर्श’ के अंतर्गत “ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य कैसे होने चाहिए? उनका अपना आचरण एवं धर्म कैसा हो? और उनके अपने धर्म से डिगने पर समाज को क्या हानि होती है?” का विस्तार से रोचक वर्णन है। रविदास जी कहते हैं ‘बचुआ समाज के स्वास्थ्य का रक्षक है शूद्र। वह अपने काम में ढील बरतेगा तो धरती गंदगी से भर जाएगी। जगह-जगह मल-मूत्र, कचरा, मलवा, इकट्ठा हो जाएगा। ऐसा होगा तो महामारी फैलने में देर नहीं लगेगी। आँधी की तरह नगर, कस्बे, गाँव महामारी की चपेट में आ जायेंगे। समाज को शूद्रों का आभारी होना चाहिये। अहसान मानना चाहिये उनका। गंदगी के जो काम और नहीं कर सकते उन्हें ये शूद्र करते हैं।’ ‘पारस’ में मेहनत की कमाई में विश्वास रखने वाले रविदासलोहे को सोना बनाने वाली पारस मणि जैसी बहुमूल्य वस्तु को भी तुच्छ समझते हुए उसे भेंट में लेने से इन्कार कर देते हैं। वे उस विभिन्न विकारों काकारक मानते हैं। वे कहते हैं ‘पारस’ मणि मुहि रतुनहीं भावै, जग जंजाल न थोरा। कहि रविदास तजि सभ त्रिखा, इकु राम चरन चित मोरा।’

‘मुख-कमान’ में रविदास जी वाणी के महत्व को प्रतिपादित करते हुए कहते हैं ‘बिन बोले नहीं बोलिए, पहिले बोली जान, गुनी और गंवार की बोली से पहचान।’ वाणी हमें लोगों से जोड़ती है और लोगों से तोड़ती भी है। हमें भी कड़वे वचन बोलने से बचना चाहिये। तीर तलवार के घाव भर जाते हैं परंतु बात का घाव कभी नहीं भरता। ‘कठौती में गंगा’ संत रविदास के बारे में सर्वाधिक प्रचलित कहावत है, मन चंगा तो कठौती में गंगा। किस प्रकार रविदास अपनी कठौती के पानी में अपने औजारों को धोने के बाद, गंगा जी का आह्वान करते हैं और उस कठौती से वैसा ही

बहुमूल्य कंगन निकलता है, जैसा कि गंगा जी ने उपहार स्वरूप ब्राह्मण को दिया था। यानि हृदय निर्मल हो तो कठौती का जल भी गंगा के समान पवित्र एवं वरदायक हो जाता है।

‘चर्चा’ के अंतर्गत एक बड़ा रोचक प्रसंग आया है। कबीर, रविदास और कमाल साथ-साथ कहीं जा रहे थे। एक कुएँ के पनघट पर दो स्त्रियाँ आपस में चर्चा कर रही थीं। एक स्त्री अपने पति की प्रशंसा करते हुए कहती हैं कि मेरी नाक और लोंग पुरानी हो गई थी, मैंने अपने पति से दूसरी नथ बनवाने को कहा, दूसरे दिन लोंग बन कर आ गई। मेरा पति कितना अच्छा है, मेरी हर इच्छा पूरी करताहै। भला आदमी है, ऐसा आदमी बड़े भाग्य से मिलता है। इस पर कबीर ठठा कर हँस पड़ते हैं और एक साखी कहते हैं, जो हमें अंदर तक झकझोर देती है ‘नथुनी दी जिस यार ने सुमिरत बारम्बार। नाक दीन्ह करतार ने उसको दिया बिसार।’ इस प्रसंग में खजूर एवं चक्री को लेकर कबीर की साखियों के प्रति उत्तर में उनके पुत्र ‘कमाल’ द्वारा रची गई अनूठी साखियाँ भी हैं, जो हमें आध्यात्म की गहराईयों में ले जाती हैं। ‘भेंट’ पढ़कर ऐसा लगता है, जैसे इस उपन्यास का मर्म ही इस शीर्षक में छिपा है। कैसे अपने ही लोगों के दुर्व्यवहार से तंग होकर हमारे लोग विधर्मी होने लगे। रविदास जी एक स्थान पर कहते हैं ‘उनकी संख्या बढ़ती रही, हमारी संख्या घटती रही। उनकी संख्या घटती रही। उनकी संख्या तो बढ़नी ही थी। संख्या बढ़ाना उनकी राजनीतिक आवश्यकता थी और धार्मिक अनिवार्यता थी। हमारी संख्या को गिरना ही था। हमने दुःख में मदद नहीं की। समय पर साथ खड़े नहीं हुए। फटे को सिया नहीं, रूठे को मनाया नहीं। दूर-दूर रखा। गले लगाया नहीं। तने-तने खड़े रहे। दंभ पर अड़े रहे। सिर्फ अपने को बड़ा समझा। दूसरे करे हेय समझा। कंधे पर हाथ नहीं रखा। पीठ कभी थपथपाई नहीं। हौंसला बढ़ाया नहीं। फासला पटाया नहीं। बहके को समझाया नहीं। ठिठके करे रोका नहीं।’ वे गुरूनानक देव का जिक्र करते हुए कहते हैं ‘दूसरों के द्वारा छुआ हुआ भोजन अशुद्ध नहीं होता, आदमी द्वारा लोभ से कमाया हुआ भोजन अशुद्ध होता है।’ ‘अंतःसंबंध’ में हमें संगति के प्रभाव का वर्णन पढ़ने का मिलता है। इसमें हमें चित्तौड़ राज्य की महारानी को रविदास जी द्वारा दीक्षा देने पर ब्राह्मण लोग जो बखेड़ा खड़ा करते हैं, उसका वर्णन मिलता है। अंत में सत्य के समर्थक रविदास की विद्वता के आगे उनके विरोधियों को भी नतमस्तक होना पड़ता है।

‘सालिग्राम’ में हम इस रोचक वृत्तांत को पढ़ते हैं कि किस प्रकार दंभ और अहंकार में डूबे ब्राह्मणों के सालिग्राम गंगा की लहरों में डूब जाते हैं और भक्त शिरोमणि, निर्मल हृदय रविदास द्वारा छोड़े गए सालिग्राम गंगा की लहरों पर तैर जाते हैं। ‘चित्तौड़’ शीर्षक में हम पढ़ते हैं किस प्रकार चित्तौड़ की महारानी अपने गुरु का सम्मान करती है। हाथी पर चाँदी के हौदे में बैठाकर रविदास जी की शाही सवारी निकाली जाती है। समस्त ब्राह्मण समूह के समक्ष रजतमंडित सिंहासन पर गुरुदेव को

बैठाकर रानीस्वयं उनके पैर पखारती हैं। पुष्प वर्षा की जाती है। राजपुरोहित स्वस्ति वाचन करते हैं। कहाँ तिरस्कर का लम्बा इतिहास और दूसरी ओर शाही सम्मान का वर्तमान। ‘बेगमपुरा’ उपन्यास का अंतिम शीर्षक है जिसमें रविदास जी बताते हैं कि मेरा बेगमपुरा परम सुखों का धाम है। यहाँ न दुःख है, न भय है और न द्वेषभाव है। यहाँ न कोई हिन्दू है न कोई मुसलमान है। यहाँ मंदिर मस्जिद का कोई झगड़ा नहीं है। बेगमपुरा में रहने के लिए सबको न्यौता है।

उपन्यास के अनेक संवाद वाक्य बन पड़े हैं। उपन्यास की भाषा में काव्यात्मक लय है। कृति कहीं भी बोझिल नहीं लगती। पाठक प्रथम पृष्ठ को पढ़ते ही सम्मोहित सा हो रविदास के चरित्र से बँध जाता है। वह उपन्यास को पढ़ते हुए यह भूल जाता है कि वह कोई कृति पढ़ रहा है, बल्कि उसे ऐसा लगता है कि जैसे समूचे घटना क्रम का वह स्वयं द्रष्टा और साक्षी है। सब कुछ जैसे उसके सामने घटित हो रहा है। हम इस कृति को पढ़ते हुए पूर्ण रूपेण रविदासमय हो जाते हैं। हमें सम्पूर्ण जीवन के बारे में एक नई दिशा मिलती है। हमारे अंदर एक नवीन चेतना का संचार होता है। प्रुफ की अशुद्धियों से मुक्त, आकर्षक आवरण वाली, शोध, अध्ययन, चिंतन, मनन के साथ श्रमपूर्वक लिखी गई इस कृति का विशिष्ट वर्ग के साथ आम पाठक भी हृदय से स्वागत करेगा, ऐसा मुझे पूर्ण विश्वास है।



## बारामासी : सत्तर के दशक की जीवंत मानसिकता के दर्शन गाँव-कस्बों के संदर्भ में\*

### सुधीर ओखदे\*\*

ऐसा नहीं है कि ज्ञान चतुर्वेदी लिखित 'बारामासी' पर लिखने का कोई प्रसंग विशेष औचित्य है। अथवा यह व्यंग्य उपन्यास मैंने आज पहली बार पढ़ा है। बारामासी मध्य प्रदेश के छोटे गाँव कस्बों की सत्तर के दशक का प्रतिनिधित्व करती ऐसी कहानी है जो उस समय की सामाजिक, आर्थिक, शैक्षणिक, राजनीतिक, आपराधिक दृष्टि को संपूर्ण ईमानदारी के साथ आपके सामने रखती है।

1978 में मैं मध्य प्रदेश शहडोल नामक कस्बे में 11वीं की कक्षा का विद्यार्थी था। आज जब मैं 'बारामासी' उपन्यास पढ़ता हूँ तो छुट्टन, गुच्चन, छदामी, बिन्नू, रम्मू, बिब्बो, लल्ला, मामाजी सभी पात्र मुझे जाने-पहचाने से लगते हैं। लगता है जैसे मैं उस काल की कोई पुरानी फिल्म रिवाइंड करके बार-बार देख रहा हूँ।

'बारामासी' बुंदेलखंड के एक छोटे से कस्बे अलीपुरा की कहानी है। एक परिवार की कथा के माध्यम से ज्ञान ने मानवीय विकृतियों, स्वभाव, रूढ़ि, परंपरा और कस्बाई मानसिकता पर इतनी सहजता से प्रहार किया है कि उनकी शैली पर मर मिटने को जी चाहता है। स्थितियों का दारुण और कारुण वर्णन भी इतने हल्के-फुल्के ढंग से प्रस्तुत किया है कि लेखक की अद्भुत लेखन शैली के दर्शन होते हैं। ज्ञान ने व्यास शैली के माध्यम से संपूर्ण उपन्यास में इस ग्रामीण परिवेश को जीवंत कर दिया है।

अलीपुरा में एक गरीब विधवा जिसे लेखक 'अम्माजी' संबोधित करता है, अपने चार पुत्रों एवं एक पुत्री के साथ बिना किसी नियमित आमदनी के वर्षों से

\*समीक्षित उपन्यास; बारामासी, ज्ञान चतुर्वेदी।

\*\*33, एफ-13 वैभवी अपार्टमेंट, व्यंकटेश कॉलोनी, साने गुरुजी कॉलोनी परिसर, जलगाँव (महा.) 425002, मो. 09923145935

रह रही है। पुत्र क्रमशः गुच्चन, छुट्टन, लल्ला, चंदू और पुत्री बिन्नो। उपन्यास के आरंभ में बिन्नो का ब्याह का उल्लेख करते हुए बुंदेलखंड में प्रचलित वधु परीक्षा को लेखक ने इतनी सूक्ष्म दृष्टि से उकेरा है कि यदि उस कालखंड का कोई भी व्यक्ति इस प्रसंग को पढ़ेगा तो निश्चित रूप से लेखक की व्यंग्य-दृष्टि का कायल हो जाएगा। लड़की का सजना-सँवरना, पड़ोस के घर का फर्नीचर, ठंडे पानी के लिए बर्फ का जुगाड़, पसंद न आने पर फिर उसी उत्साह से दूसरी बारी की प्रतीक्षा, अम्माजी का अँधेरी कोठरी में पुरानी पेटी को बार-बार खोलकर देखना और आश्वस्त होना ये तमाम बातें लेखक की सूक्ष्म दृष्टि की परिचायक हैं।

मामाजी के पात्र द्वारा लेखक लड़की बहन की जिम्मेदारी को मायके वाले किस जिम्मेदारी से निभाते हैं यह दर्शाने का प्रयास किया गया है। मामाजी, अम्माजी के भाई हैं और शादियाँ कराने में इनका कोई सानी नहीं है और यहाँ तो बात उनकी भांजी बिन्नो की है अतः वह दृढ़ संकल्प किए बैठे हैं कि बिन्नो तो बिन्नो साथ में बहन के तीनों लड़कों के लिए भी वही रिश्ते लेकर आएँगे और वह भी संपन्न घरों के। लड़कियाँ परी जैसी। ज्ञान ने इस पात्र के माध्यम से एवं इनकी बातों के माध्यम से बुंदेलखंड में विवाह के मायने स्पष्ट कर दिए हैं। लड़का चाहे कुछ भी न करता हो फिर भी उसका विवाह-संपन्न घर में हो सकता है। गुच्चन की शादी यही संकेत करती है।

मुझे हमेशा ज्ञान का साहित्य परिसर साहित्य ही लगा है। उनके आसपास के परिसर में घटित होने वाले परिवेश का जीवंत चित्रण। बारामासी भी मध्य प्रदेश का परिसर साहित्य ही है।

छुट्टन और बिब्बो के प्रेम का वर्णन लेखक ने इतनी बारीकी से किया है कि बुंदेलखंड अथवा मध्य प्रदेश में लड़की को प्रभावित करने के अचूक नुस्खों अथवा छुट्टन जैसे लड़कों की प्रवृत्ति द्वारा इस प्रकार की हरकतें हमें आसपास की घटनाओं की तरह ही ज्ञात होती हैं।

अपनी पसंद की लड़की की मात्र एक झलक पाने के लिए लड़कों को किस हद तक परिश्रम और निपुणता की आवश्यकता होती थी। आइए इसे ज्ञान की भाषा में ही देखते हैं, "जब बिब्बो मात्र कुछ मिनटों के लिए ही प्रेम प्रकटन हेतु उपलब्ध होती थी, तब एक ही साथ बहुत से जरूरी कार्य छुट्टन को संपन्न करने पड़ते थे, जिसमें कई बहुमूल्य मिनट-नष्ट हो जाते थे। जैसे ही वे बिब्बो को देखते, तुरंत जेब से काला चश्मा निकाल कर नेत्रों पर धारते, फिर जल्दी से जेब से कंधी निकालकर, बाल काढ़कर, उन्हें कंधी से ही दबाकर चिरैया जैसा फुग्गा बनाते और फिर बिब्बो को तिरछी नजरों तथा भूखी मुद्रा में घूरते हुए गली को पार कर जाते। कभी बिब्बो उनको देख लेती, कभी नहीं भी देख पाती। मूँगफली छीलने, गन्ना चूसने, गीले बालों को झटकने या जुआँवाली कंधी बालों में फिराने जैसे कार्यों में बिब्बो व्यस्त रह जाती और उनको खबर ही नहीं हो पाती कि छुट्टन इतना ढेर सारा प्यार उनकी गली में बिखरा कर निकल गए हैं।"

एक और बारीक बात ज्ञान ने इस दौर की पकड़ी है वह है, युवा वर्ग में फिल्मी ज्ञान का आदान-प्रदान और इसे उस समय बड़ा प्रतिष्ठा का माना जाता था। यदि नई फिल्मों की जानकारी नहीं है अथवा नायक-नायिकाओं के लेटेस्ट प्रेम प्रकरण से यदि कोई अनभिज्ञ है तो बुंदेलखंड में उसे मूर्ख, बेवकूफ इत्यादि मान लेने में किसी को संदेह नहीं होता था। आइए इसे एक प्रसंग द्वारा जानें

“तुम्हारे वे मीना कुमारी से फँस गए।” छुट्टन ने बताया।

“वे कौन?” छदामी तुरंत बात के मर्म तक नहीं पहुँच पाए और पूछने लगे।

“यार, हद है। और कौन मीना कुमारी से फँस सकता है?” छुट्टन ने छदामी की नादानी पर तरस खाते हुए कहा।

“कोई भी फँस सकता है।”

“कोई भी?”

“और क्या कोई भी...”

“तुम फँस सकते हो...?”

“मीना कुमारी फँसने दे तो हम तो आज फँस जाँएँ।” छदामी अब तक समझ गए थे कि बात धर्मेन्द्र, मीना कुमारी के बीच चल रहे लफड़े की राष्ट्रीय समस्या की हो रही थी, पर बात अब कुछ और दिशा पकड़ गई थी तो यही सही।

गरीब परिवारों में सुयोग्य लड़कों को अत्यधिक मान-सम्मान और बाद में उनका अपने घर-परिवार से पलायन। अपने परिवार की जिम्मेदारी से मुँह मोड़ना इत्यादि भी ज्ञान की सूक्ष्म दृष्टि से बच नहीं पाया है। परिवार का एक पुत्र चंदू अत्यंत मेधावी है और सारे परिवार में होशियार अतः परिवार में उसके ‘ज्ञान’ की दहशत को लेखक ने बड़ी बारीकी से उकेरा है। इसका हर वर्ष अब्बल आकर अगली कक्षा में जाना ही उसे पारिवारिक कार्यों से बचाता रहा। पानी भरना, रिक्शा लाना, सामान उठाना, जिम्मेदारी उठाना इत्यादि कार्य इतने मेधावी पुत्र से करवाना भला किसे भाएगा। बुंदेलखंड में विद्वता के इस सम्मान को ज्ञान ने बड़ी सफाई से बयान किया है। उपन्यास के अंत तक यही मेधावी चंदू डॉक्टर चंदू बन जाता है और अभावों और समस्याओं से घिरे अपने परिवार की तरफ देखना भी नहीं चाहता। इस कृतघ्नता को ज्ञान ने बड़ी बारीकी से उकेरा है।

बारामासी उपन्यास बुंदेलखंड, मध्य प्रदेश ही नहीं अपितु सत्तर के दशक की कस्बाई मानसिकता वाले किसी भी शहर की कथा कही जा सकती है। एक ऐसा उपन्यास जो मनोरंजन के साथ-साथ अपने समय की सही तस्वीर आपके सम्मुख उपस्थित करता है, पूरे शिद्दत के साथ।

परिस्थितियों को पकड़ने की ज्ञान में अद्भुत क्षमता है। छोटी-छोटी बातें जिन पर सहसा किसी का ध्यान नहीं जाता अथवा जिन्हें अनुल्लेखनीय मानकर प्रायः लेखक

छोड़ दिया करते हैं। उस जैसी घटनाओं को ज्ञान ने अपने इस उपन्यास में प्रसंग का विषय बनाया है और ये सभी प्रसंग न सिर्फ प्रभावी दीख पड़े हैं अपितु व्यंग्य की दृष्टि से विसंगतियों पर अद्भुत मार भी करते हैं।

ज्ञान हँसते-हँसाते प्रहार में विश्वास रखते हैं जिससे प्रहारित व्यक्ति तिलमिला तो उठे लेकिन विरोध में बोल न पाए। क्योंकि प्रहार उस वृत्ति पर हो रहा है। और यदि व्यक्ति उसका विरोध करता दिखता है तो वह स्वयं को बेनकाब कर रहा है।

बारामासी उपन्यास ग्रामीण परिवेश में जी रही एक ऐसी माँ की कहानी है जिसका पति उसे विरासत में चार नकारे पुत्र और एक बदनसीब पुत्री देकर मर गया है, जीवन से संघर्ष करने के लिए।

बारामासी उपन्यास अभावों और परिस्थितियों से संघर्ष करते-करते भी किस प्रकार प्रसन्न रहा जा सकता है इस संदेश की कहानी है। जिसे एक परिवार के माध्यम से लेखक ने बारीकी से प्रस्तुत किया है। आज ऐसे परिवार हमें सर्वत्र दिखाई देते हैं।

बारामासी उपन्यास ग्रामीण परिवेश में पल रहे ऐसे ‘उपलब्ध प्रेम’ की कहानी है जिसका कोई भविष्य नहीं है। और इस भविष्य की किसी को चिंता भी नहीं है।

बारामासी उपन्यास बुंदेलखंड में आज भी जीवित जिम्मेदारियों और उसके अहसान तले दबे लाखों लल्लन मामा की कहानी है जो अपने कर्तव्य को किसी जिम्मेदारी से कम नहीं समझते और कभी निराश नहीं होते।

बारामासी उपन्यास बुंदेलखंड में अपराध, गुंडागर्दी को सम्मान के रूप में स्वीकार करने की कहानी है। बुंदेलखंड में ताकत और हिम्मत पुरुषत्व के लक्षण माने जाते हैं। वहाँ मान-सम्मान के लिए कल्ल कर देना, जेल हो आना, आप पर मुकदमे चलना इत्यादि प्रतिष्ठा की बात मानी जाती है। लल्ला के माध्यम से ज्ञान ने बुंदेलखंड की इस प्रवृत्ति का भी बड़ी ईमानदारी से वर्णन किया है।

बारामासी उपन्यास मेधावी पुत्र के योग्य बनते ही कृतघ्न बनने की कहानी है, जो आज हमें हर घर में दिखाई देते हैं।

बारामासी उपन्यास बिनू जैसी विवाह को तरसती अनेकों युवतियों की कहानी है जिसके मान-सम्मान, आत्माभिमान का कोई मोल नहीं। अपमान को अपनी नियति मानती ऐसी अनेक युवतियाँ आज हमें सर्वत्र दिखाई देती हैं।

ज्ञान के लेखन में एक अजीब-सा ईमानदार भोलापन है। ‘चूतिया’ शब्द का प्रयोग मध्य प्रदेश में इतना प्रचलित है कि इस शब्द के अर्थ को समझने में न तो वहाँ का भोलाभाला व्यक्ति पड़ता है और न ही उन भोलेभालों का ईमानदार लेखक ज्ञान ही पड़ता ही। बस इस शब्द का पर्यायवाची वहाँ के लोग मूर्ख, अहमक, ना समझ इत्यादि मानते हैं जबकि यह एक गंदी गाली है। ज्ञान से आग्रह है कि वे इस शब्द से परहेज करने की कोशिश करें।

बारामासी उपन्यास समय का एक ऐसा दस्तावेज है जिसे सहेजकर रखा जाना जरूरी है।

## अश्रांत पथों पर चलते संकल्पबद्ध चरण\*

नंदलाल मेहता 'वागीश'\*\*\*

मुक्तछंद में रचित वरुण कुमार तिवारी की 61 कविताएँ 'कुछ दूर रेत पर चलकर' शीर्षक-संग्रह में निबद्ध हैं। भावतत्त्व की दृष्टि से ये कविताएँ कवि की उस सजग मनस्कता से उद्भूत हुई हैं, जो अपने समय के सरोकारों से रू-बरू है। मूलतः वस्तु-व्यक्तिभाव की अपेक्षा इन कविताओं में अपने समय के परिप्रेक्ष्य के साथ-साथ व्यापक मानवीय पक्ष और प्रश्न भी जुड़े हैं। व्यवस्थाबिद्ध पीड़ाओं और प्रश्नों से बचकर निकलना कवि का स्वभाव नहीं है, बल्कि वह निष्कम्प स्वर और सचेत भावबुद्धि से उनको अस्वीकार करता है। कई स्थलों पर यह अस्वीकरण प्रतिरोध-प्रतिकार सरीखा है। इसलिए इन कविताओं में अपने युग के अश्रांत पथों पर चलते जिस मनुष्य का वर्तमान झँकता है, वह कभी भावप्रेरित होकर, कभी विचार चालित होकर, कभी दर्शन भावित होकर, कभी नीतिबद्ध होकर तो कभी संकल्पबद्ध होकर भविष्य की डगर पर अपने पग बढ़ाता है।

यह ठीक है कि संग्रह की कविताएँ मुक्तछंद में रचित हैं और यह भी कि भावकथन की इयत्ता पर यद्यपि श्रुति आवर्तन का कोई निश्चित विधान नहीं है, तो भी बीच-बीच में सम की अनुगूँज व्याप्त है, जिससे मुक्तछंद की लयात्मकता बनी रही है। कवि वरुण तिवारी की कविताओं के पर्याय से कम-से-कम यह तो कहा जा सकता है कि मुक्तछंद के विधान के आश्रय से उनकी कविताओं की भावभूमि को एक प्रशस्त क्षेत्र मिल गया है।

\* समीक्षित कृति: कुछ दूर रेत पर चलकर : (कविता-संग्रह), कवि : वरुण कुमार तिवारी, प्रकाशक : नमन प्रकाशन, 4231/1, अंसारी रोड, दरियागंज, नई दिल्ली-2

\*\* पूर्व वरिष्ठ अध्येता, संस्कृति मंत्रालय, भारत सरकार। शब्दालोक, 1218, सेक्टर-4, अर्बन इस्टेट गुडगाँव (हरियाणा)।

विषय-पृष्ठाधार की दृष्टि से ये कविताएँ वर्तमान व्यवस्था की विद्रूपताओं, विसंगतियों, विकृतियों और विषमताओं की कोख से जन्मी मानवीय पीड़ाओं, संत्रासों, विवशताओं, किंतु साथ ही जिजीविषा की कविताएँ हैं। अव्यवस्था की सबसे अधिक मार साधारणजन पर पड़ती है। उसके प्रतिकार की आवाज दबा दी जाती है। यँ भी यांत्रिक और अर्थव्यावसायिक युग में मनुष्य का स्वभाव अधिक नृशंस हो गया है। गाँव तक बदल गए हैं। शहरों की ओर पलायन है। शहरों में भी घात-प्रतिघात है। बाहर का तनाव भीतर उतर गया है। सभी अपने-अपने राग-द्वेषों से संतप्त हैं। संवेदनहीनता और अजनबीपन है। ऐसी विषम परिस्थितियाँ हैं कि मन की सच्ची भावनाओं को व्यक्त कर पाना संभव नहीं है। ऐसी स्थिति में सृजनरत रहना एक बहुत बड़ी कीमत चुकाना है। विषम परिघटनाएँ घटित हो रही हैं। स्वयं के होने पर आदमी प्रश्नांकित है। आत्मघाती स्थितियाँ हैं। बेतरतीब जिंदगी है। वैश्वीकरण और बाजार की आँधी में कोमल भावनाएँ रौंदी जा रही हैं। जहाँ पूँजी ही सब कुछ हो वहाँ आत्मा का विनिमय भी हो सकता है। निःशस्त्रीकरण के नाम पर शस्त्रास्त्र-उत्पादन जारी है। माँ पृथ्वी आहत है। पिता आकाश अर्चभित है। रिश्तों में निस्संगता, लंपटता, अहंकार और स्नेहहीनता है। पीढ़ियों का अंतराल है। पीड़ा और दर्द है। इन सबके बीच भी कवि आशावादी है। कठिन संघातों के बीच भी शब्द पर उसका विश्वास है। महाविनाश के बीच सर्जना जीवन का उत्सव मनाती है। मनुष्य के भविष्य में कवि की आस्था इन शब्दों में प्रकट होती है

'सुबह होने से पहले/रोज रात को/चमकते हैं/कुछ शब्द स्याह आकाश में/विस्तार पाने के लिए/कि मधुर मुस्कान का प्रतिफल है/एक उत्सवपूर्ण दिन की शुरुआत/इसलिए स्वागत करो खिलखिलाकर/एक दुधमुँहे दिन के जन्म का।' (पृ. 103)

इसलिए अपने कविता-चिंतन को सकारात्मक समाहरण के साथ विराम देता हुआ कवि कहता है

'जीवन कितना भी छोटा हो/कितना ही विषादपूर्ण/और मौत कितनी ही निश्चित/फिर भी उदास होने का क्या अर्थ/ऐसे अँधेरे वक्त में अब/रोशनी का एक कतरा भी/ दिखाई पड़े तो बसा लें आँखों में/और गलत कर दें/दुख और मौत को।' (पृ. 104)

संकलित कविताओं के शीर्षक प्रायः तद्गत रचनाओं से सीधे लिए गए हैं। वस्तुतः कविता के केंद्रीय भाव की धारक पंक्तियों को शीर्षक का रूप दे दिया गया है। इस प्रकार शीर्षक कविताओं के अंतस्तत्त्व को व्यक्त करते हैं। अपवाद रूप में कहीं-कहीं ये शीर्षक कविता की भाव-चेतना के निकटस्थ शब्दों के अभिव्यक्ति रूप हैं। स्पष्ट है कि शीर्षक न केवल उन कविताओं की संवेदना के अभिलक्षक है अपितु कवि की सर्जनात्मक चेतना के भी अंग हैं। अधिकतर शीर्षक प्रतीकात्मक हैं। पुस्तक

का शीर्षक भी स्वयं में प्रतीकात्मक है। 'नदी हो जाना' विस्तार का प्रतीक है। अपनी संपूर्णता के साथ गतिशील होना है। अपने लक्ष्य सागर में विलीन होना है, किंतु रेत पर चलना अपनी गति को बाधित हुआ पाना है। नदी समुद्र तक नहीं पहुँच पाती। कुछ दूर रेत पर चलकर, रेत में ही सूख जाती है। उसकी गति-शक्ति थक जाती है। समाज की संवेदनहीन व्यवस्थाएँ और स्थितियाँ लड़की के लिए गति बाधक रेत की तरह है। उसकी लक्ष्योन्मुख यात्रा बीच में ही त्रासद परिणतियों को प्राप्त होती है।

रचना-प्रक्रिया के अंतर्गत यह भी जानना महत्त्वपूर्ण है कि कविता का प्रारंभ किस विधि व कैसी शब्दावली में हुआ है। इस दृष्टि से यह कहा जा सकता है कि बहुत-सी कविताओं का प्रारंभ प्राकृतिक परिवेश की शब्दचित्रात्मक पद्धति से हुआ है। कहीं-कहीं यह परिवेश भावकथन से, कहीं वस्तु कथन से तो कहीं आसपास की यथार्थ स्थितियों के वर्णन से हुआ है।

जहाँ तक कविताओं के संरचनात्मक स्थापत्य का संबंध है, कवि वरुण तिवारी समानांतर कथनों और लाक्षणिक शब्द-विधान में निपुण हैं। कहीं-कहीं प्रतीक कथन से व्युत्पन्न लाक्षणिकता मन को चमत्कृत करती है। जैसे 'सूर्य के रात्रि कक्ष में' सरीखी काव्य-पंक्ति, क्षणांश के लिए सही, पाठक की सावधानता को स्तंभित कर देती है। प्रतीक, रूपक और मानवीकरण ऐसे समर्थ अलंकारों से निर्मित बिंबों ने कवि की सर्जनात्मकता उद्भावनाओं को तराशा है। अधिसंख्य कविताओं का कथ्य पर प्रकृति रंगचित्रों से बुना गया है। इसे यँ भी कहा जा सकता है कि प्रकृति के मानवीकृत रूपों के माध्यम से कवि अपने भावजगत् की उद्भावनाओं को मूर्त रूप देता है। प्राकृतिक दृश्यांकन को जीवन से और जीवन के हर्ष-विषाद को प्राकृतिक क्रियाओं से उपमित करता हुआ कवि मानवीय अनुभवों को सामान्यीकृत करता चलता है। स्वाभाविक है कि अनेक कविताओं में भाषा का उपस्थापन प्राकृतिक परिवेश चित्रण से घटित हुआ है। उदाहरणार्थ 'नन्हीं चिड़िया' समाज के निर्बल और साधनहीन व्यक्ति की प्रतीक है। उसकी उड़ान में ही उसके पंख तोड़ देने के लिए रास्ते में शीशमहल है। पारदर्शी होते हुए भी शीशमहल आकाश तो नहीं हो जाता। निस्तब्ध रात्रि में तारों का टूटना, टूटती आशाओं का प्रतीक है। अनेक प्रसंगों में सूक्ष्म की अभिव्यक्ति स्थूल उपमाओं से की गई है तो कहीं-कहीं सूक्ष्म संज्ञा से स्थूल-संज्ञा का प्रतीकार्थ लिया गया है। प्रकारांतर से जीवन और प्रकृति में समस्थितियों की परस्परता को उपमान विधान में परिणत करता हुआ कवि अपने कथ्य को संप्रेषित करता है। द्रष्टव्य हैं ये पंक्तियाँ 'सुबह होने से पहले/रोज रात को चमकते हैं/कुछ शब्द स्याह आकाश में।' (पृ. 103) यहाँ 'शब्द' भावपद का विलक्षण प्रयोग हुआ है। शब्द प्रतीक है सितारों का, आकाश की उत्सवपूर्ण मुस्कान का। यँ अनेक कविताओं में शब्द पद का प्रयोग कवि की दर्शनप्रज्ञ चेतना से उदित हुआ है। वस्तुतः कवि को शब्द, समय, स्मृति और अस्तित्व आदि संप्रत्ययों का गहरा बोध है। कवि की

दार्शनिक दृष्टि में मनुष्य से दुख का रिश्ता यँ व्यक्त हुआ है दुख है तो हम जुड़े हैं। हर दुख में और ज्यादा/एक-दूसरे के करीब हैं/और ज्यादा। (पृ. 38)

कवि ने गाँवों की प्राकृतिक स्थितियों का विश्वसनीय चित्रण किया है। गाँव की प्रकृति का रूपांकन प्रातः दुपहरी, सायं, कूप-सरोवर-पनघट, घर-आँगन, रंभाती गाय, गले बँधी घटियाँ, बछड़े-बैल, चरवाहे, मटमैली राहें, टूटी-फूटी पाठशालाएँ, शिक्षक-छात्र और भागदौड़ करते बच्चे आदि मुँह बोलते शब्द चित्रों से किया गया है।

कविताओं की अभिव्यंजना के साधक अलंकारों में उपमा, उल्लेख, उदाहरण, दृष्टांत और विशेषण विपर्यय उल्लेखनीय हैं। वस्तुतः प्रतीकोन्मुख भाषिक संरचना में प्रयुक्त अलंकार इतनी साहचर्यशील स्थिति में है कि उनकी विशिष्ट उद्भूति नितांत सुकर नहीं है। एवमृगते कतिपय उदाहरण ध्यातव्य हैं 'मेरा असहाय एकांत' और 'दुधमुँहे दिन' में विशेषण विपर्यय है तो 'बदल गया है अब/रोटी का चेहरा।' (पृ. 13) में मानवीकरण चरितार्थ हुआ है। कई स्थलों पर नाम धातु प्रयोग से भाव एवं अर्थ को गति मिली है। कई ऐसे स्थल हैं जहाँ विपरीतताओं को आमने-सामने रखकर कवि ने कविता के भाव-सौंदर्य को उद्घाटित किया है।

'कुछ दूर रेत पर चलकर' काव्य-संग्रह के संदर्भ में यह कहा जा सकता है कि अपने समाज के संतप्त परिवेश एवं विसंगत परिप्रेक्ष्य के बीच भी कवि वरुण कुमार तिवारी का कवित्व सकारात्मक भाव-उद्भावन, विचार-उद्बोधन तथा मानवीय मूल्यों के प्रति संकल्पबद्धता के अपने वैशिष्ट्य-गुण से पाठक के मन में मनुष्यता के प्रति आस्था और शब्द के प्रति आश्वस्ति का भाव जगाता है।

पृ. 126 का शेष

## पत्रिकाएँ

**राष्ट्र-किंकर**, दिवाली विशेषांक 2011; वर्ष:08, अंक: 42 अक्टूबर 2011; प्रकाशक एवं संपादक: विनोद बब्बर, ए-2/9ए, हस्तसाल रोड, उत्तम नगर, नई दिल्ली-110 059; पृष्ठ:48; मूल्य: 20 रुपये।

**नागांचल**, अंक 9, 2011; प्रकाशक एवं संपादक: जगदम्बा मल्ल, महालेखाकार का कार्यालय, नागालैण्ड, कोहिमा एवम् अध्यक्ष, नगर राजभाषा कार्यान्वयन समिति, कोहिमा; पृष्ठ:52।

**संवदिया**, सर्जनात्मक साहित्यिक त्रैमासिकी वर्ष-7/8, संयुक्तांक-4/1, जुलाई-दिसम्बर 2011; संपादक: अनीता पंडित; प्रकाशन: संवदिया प्रकाशन, जयप्रकाश नगर, वार्ड न. 7, अररिया-854311(बिहार); पृष्ठ:100; मूल्य: 30 रुपये।

## अनुभूति के पल\*

रंजना शर्मा\*\*

यों तो काव्य-कमनीयता पर पूर्व और पश्चिम के विद्वानों ने बहुत कुछ लिखा है पर आचार्य मम्मट ने “शब्द और अर्थ की परस्पर स्पर्धा-चारुता एवं रसात्मकता” पर जोर दिया है। अर्थात् काव्य-माधुर्य में कहीं शब्दों का अलंकरण और कहीं भावों की प्रखरता परस्पर होड़ करती हैं परंतु प्रमुखता रसात्मकता की है।

प्रस्तुत काव्य संग्रह ‘अनुभूति के पल’ में भाव और कला जगह-जगह होड़ कर रही हैंकहीं भाव बाजी मारते हैं तो कहीं कला अर्थात् परस्पर स्पर्धा-चारुता दृष्टिगत होती है। उन्होंने यत्र-तत्र ‘मातृदेवो भव’ भाव को माँ के प्रति कृतज्ञता में चित्रित किया हैनारी को जीवन की धाती, जीवन की बाती, अवलंबन, मूर्तिमती ममता आदिइसी प्रकार बेटी के विषय में वे कहती हैं : “कच्ची उम्र में जीवन की सच्चाई ढूँढती, कली खिलने से पहले मुझाती”, “उसकी आँखों में उठते प्रश्न पुकार-पुकार कर पूछ रहे हैंएक ही कोख में जन्मे हैं बेटा-बेटी, माँ बता! फिर बेटी क्यों हेठी?”

“जल रहा है देश सारा” में वे कहती हैं, “कुछ लोग सेंकते हैं रोटियाँ जब धर्म के ही नाम परआग वे सुलगा चुके हैं, जला चुके हैं आस्थाइसमें राम क्या रहमान क्या?”है न वर्तमान सभी राजनेताओं पर करारा प्रहार।

कवयित्री ने आह्वान में क्या खूब कहा है“हमें मत बताओ तुम कानून सारे, कानून सब क्या हमारे लिए हैं?” फिर नेताओं पर कैसी फब्ती कसी है? “अपने भूखे पेट को भरने की खातिर हमने दो दाने उठाए सितम हो गया।

और! भरे पेट तुमने किए गोदाम खाली!”

विशुद्ध राजनीति से कवयित्री बहुत व्यथित-चिंतित हैं।

\*कृति : अनुभूति के पल (काव्य-संग्रह), कवयित्री : श्रीमती शान्ति बापना, प्रकाशक : शारदा प्रकाशन, 16 एम-3, अंसारी रोड, दरियागंज, नई दिल्ली, मूल्य : 250/-

\*\*रंजना शर्मा, 24 जेड, सरोजिनी नगर, नई दिल्ली-11

“देख रही हूँ मानवता आहत है, ईमान टके सेर बिक रहा है  
सत्य कटघरे में खड़ा है, रक्षक भक्षक बन चुका है  
समझौतों की राजनीति चल रही है अनीति पल रही है।”

ऐसे नैराश्य-तिमिर आच्छन्न वातावरण में कवयित्री की नारीसुलभ अभिलाषा यों व्यक्त हुई है :

“सियासत में न मजहबों का नाम उठे, बस इंसान से इंसान मिल बैठे।  
नई सदी का आगाज कुछ ऐसा हो, हम विश्व के सिरमौर बन बैठें ॥”

कवयित्री इस समय की सामाजिक व राजनीतिक विसंगति से इतनी विशुद्ध प्रतीत होती है कि उन्होंने लगभग दस पंद्रह कविताओं में इन पर करारा प्रहार किया है जिनमें चारा कांड, राजू हत्या कांड, गोधरा कांड सामिल हैं। उन्होंने स्वीकारा है कि आज के यांत्रिक युग में फैली विसंगतियों से उनका हृदय उद्वेलित हो उठा है, वे इस युग के मूल्य-क्षरण एवं आदर्शहीनता से आतुर-विह्वल हो गई हैं और इसका आभास इन पंक्तियों में झलकता है : (यह सर्वथा नए ढंग की ‘पैरोडी’ है जिसका हिंदी में चलन नगण्य-सा है।)

“बापू तुम नहीं रहे, किंतु तुम्हारे तीन बंदर  
सर्वत्र नजर आ रहे हैं, उनकी भांगिमाएँ वही हैं।  
अर्थ बदल गए हैं  
पहले बंदर की आँखें बंद हैं  
जीवन-मूल्यों के प्रति।  
दूसरे के कान बंद हैंसंवेदनाओं के प्रति।  
तीसरे बंदर का मुँह बंद हैजवाबदेही के प्रति ॥

अब तो पैरोडी हिंदी में दुर्लभतम विधा है। इस विधा में कभी ‘बेढब बनारसी’ एवं कवि चोंच ने कलम चलाई थी। जैसे रसखान पर पैरोडी : “जो पशु हों तो बनों बुलडॉग फिरों चढ़ि के नित मेम की कारन।” अस्तु, उक्त प्रयास अभिनव, श्लाघ्य व समीचीन है।

कवयित्री का ऋजु मानस देशप्रेम की कविताओं में यत्र तत्र हिलोरें ले रहा है। उन्होंने रोमानी व तिलस्मी की चिरपरिचित डगर को छोड़ चरित्र उन्नयन एवं राष्ट्रहित का अलख जगाया है।

आचार्य बल्लभदेव ने अनूठे अंदाज में काव्य की रसात्मकता का प्रभाव कुछ यों बताया है : “काव्य में कुछ ऐसा गुण हो जो हृदयहीनों को सहृदय बनाए, जिसे सुन मात्सर्यचेता भी रोमांचित हो उठे!... आँखें अश्रुपूरित हो जाएँ, सिर झूमने लगे आदि।” श्रीमती बापना कहाँ तक पहुँचीं? पुस्तक पढ़कर शायद आप भी सकारात्मक सोच पर विवश होंगे।

पुस्तक की भाषा सरल, सुबोध एवं महावरेदार है और संप्रेषण में सशक्ता वर्तनी की अशुद्धियाँ जहाँ-तहाँ अखरती हैं!! गेट-अप और छपाई सुंदर है।



## पाठकीय प्रतिक्रिया

‘चिन्तन-सृजन’ (अक्टूबर-दिसम्बर-2011) के नवीन अंक में मेरे आलेख (‘बंकिम चन्द्र चटर्जी ....पुनर्पाठ’, च. 32-43) के प्रकाशन हेतु मैं आपका आभारी हूँ। कृपया आगामी अंक में पृ. 35 की कुछ निम्नांकित वर्ष-सम्बन्धी छपायी की भूलों को सुधारने की सूचना यदि छाप दी जाये, तो अति कृपा होगी:- पृष्ठ 35 : पहली पंक्ति - 1870 के दशक की जगह 1770 के दशक छटवीं पंक्ति - (1877) में फसल की जगह (1777) में फसल सातवीं पंक्ति - (1878) में अकाल की जगह (1778) में अकाल आलेख के विषय में मुझे कई (दूरभाष पर) संदेश मिले हैं। मैं इन सभी पाठकों का जिन्होंने इस आलेख के विषय में मुझे अपने मूल्यवान विचार संप्रेषित किये, कृतज्ञ हूँ। ‘चिन्तन-सृजन’ के द्वारा ‘भारतीय संस्कृति’ की ‘गहन-चिन्तन-मनन’ परंपरा का निर्वहन, सृजनात्मक आलेखों के द्वारा हो रहा है, यह अति हर्ष का विषय है; विशेषकर आजके उपभोक्तावादी, वितण्डावादी, पतनशील सामाजिक सन्दर्भों में!! मैं पुनःश्च सम्पादक एवं सम्पादक मण्डल को धन्यवाद करता हूँ।

- सुधीर कुमार, प्रोफेसर (अंग्रेजी), पंजाब विश्वविद्यालय,  
चंडीगढ़-160014, पता: एफ-2, सेक्टर-25,  
चंडीगढ़-160014; मो. 09876675149.

आपकी त्रैमासिक पत्रिका वर्ष 9 अंक 1 (जुलाई-सितम्बर 2011) प्राप्त हुई। पढ़कर प्रसन्नता हुई। उच्चस्तरीय चिन्तन-परक लेख पढ़कर प्रेरणा प्राप्त हुई। वर्तमान संक्रमण काल में जन चेतना जाग्रत करने के लिये ऐसे ही चिन्तनकी आवश्यकता है।

- स्वामी ब्रह्मभित्त्रानन्द गिरि, समन्वय साधना पथ,  
सांस्कृतिक राष्ट्रीय चेतना का मासिक, प्रधान कार्यालय: समन्वय कुटीर,  
सप्त सरोवर, हरिद्वार-249410 (उत्तराखण्ड)

चिन्तन-सृजन जुलाई-सितम्बर 2011 पढ़ गया हूँ। आपने ठीक कहा है कि प्रजातंत्र के सम्यक विकास और उसके स्वस्थ रहने के लिए सहमति एवं जनमत की सहमति अत्यावश्यक है। प्रजातंत्र की सफलता के लिए जिस तीन ‘पी’ (पब्लिक ओपिनियन,

प्रेस, प्लेटफार्म) की महती आवश्यकता है, उसी में यह ‘सहमति’ आती है, वैसे तो प्लेबिसाइट (जनमत संग्रह) का भी प्रावधान है पर यह न व्यावहारिक है, न जनप्रतिनिधि इस फेर में पड़ना चाहते हैं। कारण, वे कैसे जनप्रतिनिधि बने हैं, यह कौन नहीं जानता। “जनमत जाति, संप्रदाय, क्षेत्र, भाषा आदि के विचार से ऊपर उठकर राष्ट्र के दिल बने।” (पृ. 7) पर ऐसा हो कहाँ पाता है। आप ने धर्मपाल के लेख का संदर्भ देकर प्रजातांत्रिक गठन के दोष पर ध्यान आकृष्ट किया जिसका खामियाजा सब भोग रहे हैं। भाई शत्रुघ्न प्रसाद ने एक साथ साहित्य और राजनीति की देवियों का स्मरण किया है और पाया है: कि कुरंतुल एन हैदर, अरुंधति राय, अलका, सरावी आदि ऐसी देविया हैं जिन्होंने भारत का मस्तक ऊँचा किया है। उनका मानना है: “प्रगति युग और सेक्यूलर युग की देवियों ने अपनी वाणी, लेखनी और गतिविधियों से नए भारत का निर्माण किया है।” (पृ. 56) उनका लेख नवीन, अछूते विषय पर रोशनी डालता है। लेखक बहुश्रुत हैं।

समीक्षाएँ प्रसिद्ध समीक्षकों की हैं। स्तरीय हैं। कृतियों की अंतर्गता कराती हैं। आलोचना को गति देती है। सभी लेखकों, समीक्षकों को बधाइयाँ।

आपने समीक्षा स्तंभ बड़ा कर विविध कृतियों के घर बैठे आस्वाद पाने का मार्ग प्रशस्त किया है। साधुवाद।

- प्रो. मृत्युंजय उपाध्याय, संपादक: संबुद्ध (मासिक),  
धनवाद, वृन्दावन; वृन्दावन, मनोरम नगर,  
लूबी सर्कुलर रोड, धनबाद-826001 (झारखंड)

जुलाई-सितंबर का चिन्तन-सृजन पढ़ा। सभी लेख सार-गर्भित लगे। एक साहित्यिक पत्रिका में “सूचना प्राद्यौगिकी में नागरी लिपि के धीमे कदम” जैसे तकनीकी लेख ने बेहतर आयाम दिया है। स्वनिम-रूपिम बसुधैव समीप नागरी लिपि ही हो सकती है। प्रत्येक अंक में एक वैज्ञानिक लेख की मैं आशा करता हूँ। नये शब्द-संकलन के लिए साधुवादचर्चित संदर्भ “अन्ना की आंधी के मायने” में रामबहादूर जी ने बेहतर चिन्तन किया है। उनके मौन व्रत से भी आंदोलन उर्जावान हुआ है। धन्यवाद।

- डॉ. भोला - मनहारी, कटिहार-854113.

## प्राप्ति-स्वीकार

पिछले अंको में सूचीबद्ध पुस्तकों/पत्रिकाओं के अतिरिक्त प्राप्त नई पुस्तकें/पत्रिकाएँ:

### पुस्तकें

**संत रविदास की रामकहानी**, डॉ. देवेन्द्र दीपक; प्रकाशक: आर्य प्रकाशन मंडल, IX/221, सरस्वती भंडार, गांधीनगर, दिल्ली-110031; प्रथम संस्करण 2011; पृष्ठ: 168; मूल्य: 250/- रुपये।

**उत्तर-आधुनिकता : बहुआयामी संदर्भ**, पाण्डेय शशिभूषण 'शीतांशु'; प्रकाशक: लोकभारती प्रकाशन, पहली मंजिल, दरबारी बिल्डिंग, महात्मा गाँधी मार्ग, इलाहाबाद-211001; प्रथम संस्करण: 2010; पृष्ठ: 314; मूल्य: 350/- रुपये।

**संघर्ष बस संघर्ष**, डॉ. शुभदर्शन; प्रकाशक: युक्ति प्रकाशन, ए-2, न्यू इंडिया अपार्टमेंट्स, सेक्टर-9, रोहिणी, दिल्ली-110085; संस्करण: 2011; पृष्ठ: 128; मूल्य: 250/- रुपये।

**वन्दिता बन्दी कबतक**, डॉ. वन्दना विजयलक्ष्मी पंचशक्ति प्रकाशन, मुजफ्फरपुर/नयी दिल्ली; संस्करण: 2010; पृष्ठ: 176; मूल्य: 250/- रुपये।

**समकालीन कहानी : नया परिप्रेक्ष्य**, पुष्पपाल सिंह; सामाजिक बुक्स, नयी दिल्ली-110002; संस्करण: 2011; पृष्ठ: 478; मूल्य: 795/- रुपये।

**प्रतिशोध**, प्रतिभा राजहंस; प्रकाशक: अभिधा प्रकाशन, रामदयालुनगर, मुजफ्फरपुर; संस्करण: 2010; पृष्ठ: 192; मूल्य: 200/- रुपये।

**काव्य मन्दाकिनी - 2009-2010**, सम्पादक: श्यामलाल उपाध्याय; प्रकाशक: भारतीय वाङ्मय पीठ, लोकनाथ कुंज, 127/ए/8, ज्योतिष राय रोड, न्यू अलीपुर, कोलकाता-700053; प्रथम संस्करण: 2011; पृष्ठ: 248; मूल्य: 325/- रुपये।

शेष पृ. 121 पर

*We Strive  
to Satisfy  
Our Customers*

**VASUNDHARA MARKETING CO.**

Sales Tax No. LC/13/017261/1080

☎ 3277883 (Off.)

*Regd. Office*  
**1/3575, Netaji Subhash Marg  
Darya Ganj, New Delhi-110002**

With Best Compliments

from

**VASUNDHARA IMPEX (P) LTD.**

*Administrative Office*

LG-69, World Trade Centre,  
Babar Lane, New Delhi-110001

*Regd. Office*

1/3575, Netaji Subhash Marg,  
Darya Ganj, New Delhi-110002  
Phone Off. 3277883, 3711848